ISSN 2229-6328

भाग - सप्तत्रिंश, चतुर्थ खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



वेदों के वैज्ञानिक सिद्धान्त

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः सप्तत्रिंश चतुर्थ खण्ड (वि. सं. २०७९)

वेदों के वैज्ञानिक सिद्धान्त

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अक्टू. - दिस. २०२२ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: सप्तत्रिंश, चतुर्थ खण्ड

अक्टू.-दिस. २०२२

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२३ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,०८,५३१२३ गते

• **युगाब्द** ५१२४

• **दयानन्दाब्द** १९८

सम्पादकीयम्

वैदिकी संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीनतम, सुसंस्कृततम एवं समृद्धतम संस्कृति है। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ इसी संस्कृति की छत्रछाया में पल्लवित एवं पुष्पित हुई हैं। अन्य संस्कृतियाँ जब अङ्कुरावस्था में थीं, उस समय यह संस्कृति अपने विराट् वैभव को प्राप्त कर चुकी थी। प्राचीन ऋषि-मुनि एवं आचार्यों ने सर्वलोक के कल्याण की कामना करते हुए अपने तपोबल एवं आर्षदृष्टि से इस संस्कृति का संवर्धन किया। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद हैं। इस संस्कृति की समस्त मान्यताएँ व परम्पराएँ वेदाश्रित हैं। मानव सभ्यता के आरम्भ काल को ही आर्ष परम्परा वेदों का आविर्भाव काल स्वीकार करती है। प्राचीन एवं पाश्चात्य सभी मनीषी एकमत से वेद की प्राचीनता को स्वीकार करते हैं। वैदिक ज्ञान सार्वभौम एवं सार्वकालिक है। यह साहित्य अनादिकाल से ही प्राणिमात्र को समुन्नति का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष की प्राप्ति परमतत्त्व के ज्ञान के बिना कथमपि सम्भव नहीं है-

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

भारतीय मनीषा का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदों के ज्ञान से ही परमतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है-

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।

वस्तुतः मानव भौतिक दृष्टि से कितना भी सम्पन्न हो जाए, यदि वह आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं है तो उसकी भौतिक सम्पन्नता व्यर्थ ही है। भौतिक सम्पन्नता प्रेय मार्ग की ओर ले जाती है तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता श्रेयमार्ग की ओर ले जाती है। प्रेय मार्ग संसार का प्रवेश द्वार है तथा श्रेयमार्ग मोक्ष का। श्रेय मार्ग का आद्य पथ प्रदर्शक वैदिक साहित्य ही है।

न केवल अध्यात्ममार्ग में प्रवृत्ति के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक है अपितु सामाजिक समुन्नति के लिए भी वेदार्थ ज्ञान नितान्त आवश्यक है। प्राणिमात्र के समस्त कर्तव्याकर्तव्यों का विस्तार से वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। व्यक्ति-समाज, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, माता-पिता, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि के कर्तव्य वेदों में वर्णित हैं। इस सन्दर्भ में महर्षि मनु लिखते हैं-

यः कश्चित कस्यचित् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
सः सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

मनु० २.७

वेद प्रतिपादित आचारमीमांसा अथवा नैतिक कर्त्तव्य किसी स्थानविशेष, देशविशेष, कालविशेष अथवा व्यक्तिविशेष के लिए नहीं हैं अपितु ये सार्वभौम, सार्वकालिक एवं शाश्वत हैं।

इसी महत्ता के कारण प्राचीनकाल में वेदों का पठन-पाठन सबके लिए अनिवार्य था। वेद के स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए शतपथब्राह्मणकार महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि वेद का प्रतिदिन किए जाने वाला स्वाध्याय सम्पूर्ण पृथिवी के दान से भी श्रेष्ठ है-

यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यम्, य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।

शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.३-७

भारतीय प्रज्ञा वेदों को सकल ज्ञान विज्ञान का मूल स्वीकार करती है। स्वामी दयानन्द वेदों को समस्त सत्य विद्याओं का मूल प्रतिपादित करते हैं। मधुसूदन ओझा, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल शास्त्री, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि अनेक भारतीय विद्वानों ने वेदों में प्रतिपादित वैज्ञानिक सिद्धान्तों का विस्तरशः प्रतिपादन किया है। वेदों के अनेक मन्त्रों में समाजविज्ञान, राजनीतिविज्ञान, अध्यात्मविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, जन्तुविज्ञान, आयुर्विज्ञान, वृष्टिविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, अर्थविज्ञान एवं विविध कलाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

वेद प्रतिपादित ज्ञान विज्ञान के संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रतिवर्ष दो वैदिक शोध सङ्गोष्ठियों का आयोजन करता है। इस बार अगस्त में '**वेदों के वैज्ञानिक सिद्धान्त**' विषय पर शोध सङ्गोष्ठी आयोजित की गई। इस अवसर पर देश के प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थानों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने सारगर्भित लेख प्रस्तुत किए। इन लेखों के माध्यम से वैदिक ज्ञान विज्ञान के यथार्थ स्वरूप को समझने निश्चित रूप से सहायता मिलेगी।

मैकाले की शिक्षा पद्धति के प्रभाव में पढ़ी-लिखी आधुनिक पीढ़ी शरीर से भारतीय होते हुए भी मन एवं मस्तिष्क से भारतीय नहीं है। यह भारतीय साहित्य, परम्परा एवं आदर्शों का वैदेशिक दृष्टि से ही मूल्याङ्कन

करती है। वैदेशिक ज्ञान-विज्ञान ही उसको उचित प्रतीत होता है और भारतीय ज्ञान-विज्ञान को वह हीन भावना से देखती है। ध्यातव्य है कि कोई वृक्ष कितना भी विशाल एवं समृद्ध हो जाए, उसका अस्तित्व तभी तक सम्भव है जब तक वह अपनी जड़ों से जुड़ा रहता है। हम भारतीयों का अस्तित्त्व भी तभी तक सम्भव है, जब तक हम अपनी जड़ों से जुड़े रहेंगे। हमारी जड़ें (मूल) निश्चित रूप से वेद ही हैं। अपने साहित्य, अपनी संस्कृति, अपनी परम्पराओं के प्रति गौरव एवं सम्मान का भाव हममें उत्पन्न हो, इन्हीं कामनाओं के साथ पावमानी का यह अङ्क आपकी सेवा में समर्पित है।

प्रो० सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा सम्पन्न वैदिक शोध-संगोष्ठियों का विवरण

२४ नवम्बर १९८५	वैदिक देवतावाद
१३ सितम्बर १९८६	वैदिक सृष्टि उत्पत्तिप्रक्रिया
०१ अगस्त १९८६	श्रौतयागों की लक्ष्यगामिता
१३ जनवरी १९८७	औपनिषदीसंस्कृति
२२ अगस्त १९८७	वैदिक संहिताओं में नैतिक तत्त्व
१३ जनवरी १९८८	वैदिक स्त्री ऋषि
०१ अक्टूबर १९८८	वैदिक संहिताओं में लोकों की परिकल्पना
१३ जनवरी १९८९	ऋग्वेद में पारिवारिक स्वरूप
०१ अगस्त १९८९	ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतीक
१३ जनवरी १९९०	आधुनिक पर्यावरण समस्या एवं वैदिक समाधान
०१ अगस्त १९९०	वैदिक उषा का स्वरूप
१३ जनवरी १९९१	वैदिक शासन व्यवस्था
०१ अगस्त १९९१	वैदिक अर्थव्यवस्था वर्तमान परिप्रेक्ष्य में
१३ जनवरी ११९२	वैदिक अर्थव्यवस्था वर्तमान परिप्रेक्ष्य में
१३ जनवरी १९९३	वैदिक संहिताओं में अस्त्र-शस्त्रविज्ञान
०१ अगस्त १९९३	वैदिक कृषि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में
१३ जनवरी १९९४	वैदिक संहिताओं में राष्ट्रीय तत्त्व
१७ अगस्त १९९४	वैदिक संहिताओं में गौ
०९ मार्च १९९५	वैदिक वाङ्मय में विविध विज्ञान
०७ अगस्त १९९५	वैदिक वाङ्मय में ललित कलाएँ

१३ जनवरी १९९६	वैदिक वाङ्मय में शिक्षा एवं प्रशिक्षण विधि
२५ अगस्त १९९६	वेदों में युग्म देवता
१३ जनवरी १९९७	वेदों में वन्य जीवन
१४ अगस्त १९९७	वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन प्रकार
१३ जनवरी १९९८	वेदों में वसु देवता
०४ अगस्त १९९८	वेदों में सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना
१३ जनवरी १९९९	वैदिक संहिताओं में नारी
२२ अगस्त १९९९	वैदिक वाङ्मय में आख्यानों का स्वरूप
१३ जनवरी २०००	वैदिक संहिताओं में मृत्यु का स्वरूप
१० अगस्त २०००	वेदार्थ प्रक्रिया में ज्योतिष
१३ जनवरी २००१	वेदार्थ प्रक्रिया में शिक्षा वेदाङ्ग
३१ जुलाई २००१	वेदार्थ प्रक्रिया में कल्पसूत्र
१३ जनवरी २००२	वेदार्थ प्रक्रिया एवं श्रौतसूत्र
१८ अगस्त २००२	वेदार्थ प्रक्रिया एवं व्याकरण
१३ जनवरी २००३	वेद एवं छन्द
०८ अगस्त २००४	वेदों में पारिवारिक जीवन
१३ जनवरी २००३	वेदों में आयुर्वेद
२६ अगस्त २००४	वेदों में मानसिक चिकित्सा
१३ जनवरी २००५	वैदिक यज्ञ एवं मानव जीवन
१६ अगस्त २००५	वेदों में अर्थवेदीय तत्त्व
१३ जनवरी २००६	वेदों में विश्व शान्ति के उपाय
५-६ अगस्त २००६	वेदों में योग का स्वरूप
१३ जनवरी २००७	वेदों की सार्वभौमता
१३ जनवरी २००८	वेद एवं विश्वपर्यावरण
१३ अगस्त २००८	शुल्बसूत्रों में विविध ज्ञान-विज्ञान
१३ जनवरी २००९	वेदों में ऊर्जा
१३ जनवरी २०१०	वैदिक अग्नि का स्वरूप
१३ जनवरी २०११	वैदिक वाङमय में प्रजापति का स्वरूप
०९ अगस्त २०११	गीता का वैदिकत्व एवं स्वामी समर्पणानन्द

१३ जनवरी २०१२	शतपथ ब्राह्मण एवं स्वामी समर्पणानन्द
२९ जुलाई २०१२	वैदिक वाङ्मय में सोमयाग का स्वरूप
१३ जनवरी २०१३	वैदिक संहिताओं में सरस्वती का स्वरूप
१७ अगस्त २०१३	वैदिक संहिताओं में इतिहास की परिकल्पना
१३ जनवरी २०१४	वैदिक वाङ्मय में भूगोल
०७ अगस्त २०१४	वैदिक वाङमय में नैतिक तत्त्व
१३ जनवरी २०१५	वैदिक वाङमय में देवताओं का स्वरूप
१३ जनवरी २०१५	वैदिक वाङमय में देवताओं का स्वरूप
२६ अगस्त २०१५	वैदिक अध्यात्म विज्ञान की सार्वभौमिकता
१३ जनवरी २०१६	वेदानुशीलन का अतीत और अनागत
१४ अगस्त २०१६	वेदार्थ प्रक्रिया में भाष्यकारों का योगदान
१३ जनवरी २०१७	आरण्यक साहित्य में विविध विद्याएँ
०३ अगस्त २०१७	उपनिषदों में विविध विद्याएँ
१३ जनवरी २०१८	उपनिषदों में विविध विद्याएँ
२३ अगस्त २०१८	शतपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ
१३ जनवरी २०१९	ऐतरेय ब्राह्मण में विविध ज्ञान-विज्ञान
१०-११ अगस्त २०१९	कौषीतकि ब्राह्मण में विविध विद्याएँ
१३ जनवरी २०२०	तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध ज्ञान-विज्ञान
४ जुलाई २०२०	वैदिक संस्कृति के संरक्षक स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती
३०-३१ जुलाई २०२०	सामवेदीय-ब्राह्मणेषु विविध-ज्ञान-विज्ञानम्
१७ सितम्बर २०२०	गीता का यथार्थ स्वरूप एवं स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती
१२-१३ जनवरी २०२१	गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएं
२१ अगस्त २०२१	जैमिनीय ब्राह्मण में विविध विद्याएं
१३ जनवरी २०२२	विश्वकल्याणकारिणी वैदिकजीवनपद्धतिः
७-८ अगस्त २०२२	वेदानां वैज्ञानिकसिद्धान्ताः
१३ जनवरी २०२३	वैदिक याग एवं मीमांसा दर्शन

वेद प्रतिपादित आकाशतत्त्व का वैज्ञानिक स्वरूप

डॉ० कन्हैयालाल पाराशर[१]

हमारे देश में वैदिक काल से ही अनन्त आकाश के गर्भ में अन्तर्निहित और अनुद्घाटित रहस्यों को जानने की जनमानस में उत्कट इच्छा रही है। फलस्वरूप, साक्षात्कृतधर्मा हमारे पूर्वज ऋषियों ने विस्तृत व्योम के गूढ़तम रहस्यों को अपनी ज्ञान-ध्यान के चक्षुओं से देखा, परखा और इन रहस्यों को यथाशक्ति उद्घाटित भी किया। यह बड़े गौरव की बात है कि हमारी इस भारतीय पुण्यधरा पर एक बड़ी सुविधा यह है कि वर्षाकाल को छोड़कर शेष आठ महीनों में बिना किसी रुकावट के आकाश का निरीक्षण सम्भव होता है। किन्तु वेदोत्तर काल में आकाश-दर्शन की ओर बहुत कम लोगों ने रुचि दिखायी। इस बात को लेकर महामनीषी आदरणीय सम्पूर्णानन्द जी अति चिन्तित थे। अपनी यह चिन्ता प्रकट करते हुये उन्होंने कहा था - बड़े-बड़े कवियों की रचनाएँ देखिये, उनमें ऋतु के फल और फूलों की चर्चा होगी, चिड़ियों का जिक्र होगा परन्तु आकाश की स्थिति का नामोल्लेख नहीं मिलेगा। तुलसीदास जी की यह पङ्क्ति रामचरितमानस में जरूर मिलती है-

---

[१] **विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर**

उदित अगस्त पंथ जल सोखा।

जिमि लोमइ सोरूइ सन्तोषा॥

किन्तु यह एकमात्र अपवाद होगा। क्या बच्चे और क्या बूढ़े सिर उठाकर आकाश की ओर देखने का चलन ही नहीं है।[२]

वैदिक साहित्य में आकाश के लिये अन्तरिक्ष शब्द अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति हमें इस प्रकार मिलती है- "**अन्तः पृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते इति अन्तरिक्षम्**" अर्थात् द्युलोक और पृथिवी के बीच का मध्यवर्ती स्थान (प्रदेश) अन्तरिक्ष वा अन्तरीक्ष है। **अन्तः श्रृङ्गाणि वा यस्य पृषो० ह्रस्व ऋकारस्य द्वित्वम् अन्तरिक्षम् अन्तरीक्षम् वा।** इसी प्रकार 'आकाश' शब्द की व्युत्पत्ति है- **आकाशन्ते सूर्यादयोऽत्र आ + काश् + घञ्**[३]**।** एक यह भी व्याख्या मिलती है जिसमें कहा है कि- भौतिकी के अनुसार पृथिवी को घेरे हुये जो गोलाकार गुम्बज दिखाई देता है उसको आकाश कहते हैं।[४] कहना न होगा कि आकाश और अन्तरिक्ष परस्पर पर्यायवाची हैं। निघण्टु में अन्तरिक्ष वाचक सोलह (१६) पद परिगणित हैं। **१. अम्बरम्, २. वियत्, ३. व्योम, ४. बर्हिः, ५. धन्वः, ६. अन्तरिक्षम्, ७. आकाशम्, ८. आपः, ९. पृथिवी, १०. भूः, ११. स्वयं भूः, १२. अध्वा, १३. पुष्करम्, १४. सगरः, १५. समुद्रः, १६. अध्वरम्।**[५] वेदों में आकाश को अन्तरिक्ष के नाम से अधिकतर अभिहित किया है।

---

[२] पतना सारा आकाश, ले० हेमचन्द्र जोशी, बालसाहित्य प्रकाशन में उत्तम ग्रन्थ की भूमिका, ले० सम्पूर्णानन्द

[३] पद्मचन्द्र कोश में अन्तरिक्ष शब्द प्रकाशन, लक्ष्मणदास, नई दिल्ली तथा संस्कृत हिन्दी कोश (अन्तरिक्ष शब्द), वा० शि० आप्टे

[४] हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (वाराणसी)

[५] निघण्टु, १/३/१/१६

निघण्टु में आये आकाश के उक्त १६ नामों के निर्वचन इस प्रकार किये गये हैं -

१. अम्बरम् - यह शब्द **"अम्ब गतौ - रा दाने"** से निष्पन्न होता है। शब्द प्रदान अथवा उत्पन्न करने के कारण आकाश को अम्बर कहा गया है। शब्द आकाश का गुण है। जहाँ कहीं भी शब्द होता है, वहाँ आकाश की सत्ता है। ऋग्वेद में अम्बर शब्द का एक यह प्रयोग मिलता है -

यन्नासत्या परावति यद् वा स्थो अध्यम्बरे।

अतः सहस्रे निर्णिजा रथेन यातमश्विना॥[६]

२. वियत् - वियत् शब्द "**वि - यम नियमने**" से निष्पन्न होता है। सृष्टि के सभी तत्त्वों को अपने में नियन्त्रित कर लेने के कारण आकाश की संज्ञा वियत् है। सर्वत्र गति होने के कारण भी आकाश को वियत् कहते हैं अथवा पृथिवी और द्युलोक को पृथक् करने वाला वियत् है।

३. व्योम - व्योम यह शब्द "**वि - अव रक्षणे**" से निष्पन्न होता है। पृथिवी के ऊपर आवरण बन कर उसकी रक्षा करता है। इसी से यास्क ने व्योम को "**वि - अव रक्षणे - ल्युट् - ङि**" माना है।[७] एक व्योम है दूसरा परम व्योम है। व्योम पृथिवी से ऊपर अन्तरिक्ष है और परम व्योम द्युलोक से ऊपर सर्वोच्च लोक है।

४. बर्हिः - बर्हिः शब्द **"बृह वृद्धौ"** से निष्पन्न होता है। चारों ओर फैला होने के कारण आकाश को बर्हिः कहा जाता है। 'बर्हि' शब्द आकाश के सर्वत्र विस्तार को सूचित करता है।[८]

५. धन्वः - धन्व शब्द **"धवि गतौ"** से निष्पन्न होता है। आकाश

---

[६] ऋग्वेद, ८/८/१४

[७] परमे व्यवने, निरुक्त, ११/४० तथा ऋचश्च परमे व्यवने धीयन्ते, नि०, १३/१२

[८] बर्हिः परिबर्हणात्। निरुक्त, ८/८

को धन्व इस कारण कहा जाता है क्योंकि आकाश से पानी नीचे की ओर बरसता है। मेघों और झरनों का जल इसके उदाहरण हैं। निरुक्त के अनुसार धन्व अन्तरिक्ष (आकाश) का पर्यायवाची है।[९]

६. अन्तरिक्ष - ऋग्वेद की पदानुक्रम सूची के अनुसार ऋग्वेद में ९६ बार अन्तरिक्ष शब्द का स्वतन्त्र रूप में, चार बार समस्त पद के रूप में तथा दो बार तद्धित पद के रूप में प्रयोग मिलता है।[१०]

६. आकाशः - ऋग्वेद में '**आकाश**' शब्द प्रयुक्त नहीं है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य अवकाश होने कारण से '**अन्तरिक्ष**' का ही आकाश नाम पड़ा। शथपथ के अनुसार यह मध्यवर्ति अवकाश ही आकाश है।[११]

७. आपः - यह **'आपः'** शब्द जलवाचक है। यह **"आप्लृ व्याप्तौ"** से निष्पन्न होता है।[१२] क्योंकि यह अन्तरिक्ष वाचक पदों में पठित हुआ है अतः आपः अन्तरिक्ष के जलों का वाचक है। अन्तरिक्ष और आपः दोनों सर्वव्यापी हैं अतः ये दोनों एकार्थक हो गये। तभी तो आपः की संज्ञा भी अन्तरिक्ष मान ली गयी है।

८. पृथिवी - यह पृथिवी शब्द अन्तरिक्ष की पृथुता का बोध कराता है। वैसे तो अधिकतर प्रयुक्त **'उरु'** शब्द भी अन्तरिक्ष की पृथुता (उरुत्व) का बोध कराता है। अन्तरिक्ष का आधा भाग पृथिवीलोक के साथ भी जुड़ा हुआ है। तभी तो मैत्रायणीसंहिता[१३] के अनुसार अन्तरिक्ष

---

[९] धन्वाऽन्तरिक्षम्। धन्वन्त्यस्मादाय। निरुक्त, ५/५

[१०] दे० ऋग्वेद पदानुक्रम सूची, वि० वैदिकशोधसंस्थान, होशियारपुर

[११] सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणावकाश आसीत्तदन्तरिक्षमवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा वा इदमीक्षभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्। शतपथब्राह्मण, ७/१/२/२३

[१२] आपः आप्नोतेः। निरुक्त, ९/९६

[१३] अर्द्धं ह्यन्तरिक्षस्यास्मिंल्लोकेऽर्धममुष्मिन् लोके (द्युलोके)। मैत्रायणी संहिता, ३/८/९

का भी पृथिवीत्व है ही। प्रथ प्रथने से निष्पन्न पृथिवी शब्द वाचक अन्तरिक्ष भी भले ही किसी के द्वारा प्रथन न किया गया हो तथा उसके प्रथनकर्ता का कोई आधार भी न हो किन्तु देखने में तो पृथु है ही। अतः अन्तरिक्ष का भी पृथिवीत्व सिद्ध है।[१४]

९. "भू सत्तायाम्" से निष्पन्न **भूः शब्द** अन्तरिक्ष का भी वाचक है। क्योंकि यहीं से जलों का प्रभव होता है। इन्द्र के द्वारा मेघों का कर्तन होकर वर्षा का जल अन्तरिक्ष से ही निकल कर पृथिवी पर आता है। अतः अन्तरिक्ष की भूः संज्ञा भी है।

१०. स्वयंभू- स्वयं उत्पन्न होने के कारण यह अन्तरिक्ष या आकाश स्वयंभूः भी कहलाता है।

११. अध्वा- ऋग्वेदसंहिता में यह अध्वा शब्द १२ बार प्रयुक्त हुआ है।[१५] अन्तरिक्ष में ही सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल का विचरण मार्ग है। अतः अन्तरिक्ष की **'अध्वन्'** संज्ञा है। अध्वन् शब्द **'अ - ध्वृ हिंसायाम्'** से निष्पन्न होता है। आकाश अन्तरिक्ष में इतने सारे (असंख्य) ग्रह नक्षत्र- तारामण्डल तीव्र गति से विचरते रहते हैं किन्तु यह (आकाश) कभी हिंसित नहीं होता है।[१६]

१२. पुष्करम् - इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ०३ बार हुआ है[१७] और पुष्करिणी शब्द का प्रयोग ०२ बार।[१८] **'पुष्कर'** शब्द को अन्तरिक्ष वाचक मानते हुये निरुक्तकार ने **"पुष पोषणे"** अथवा **"पुज पूजायाम्"**

---

[१४] प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेत्यथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः। निरुक्त, १/१४

[१५] देखें ऋग्वेदपदानुक्रम सूची

[१६] ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः। निरुक्त, १/८

[१७] ऋ०, ६/१३/१६, ७/३३/११, तथा ८/७२/२१

[१८] ऋ०, ५/७८/७, १०/१०७/१०

से इसकी व्युत्पत्ति की है। अन्तरिक्ष को पुष्कर इस कारण कहा है क्योंकि यह जलप्रदान करके पृथिवी पर सभी भूतों का पालन पोषण करता है अथवा वृष्टि प्रदान करके सबका पूज्य बन जाता है।[१९] शतपथ ब्राह्मण में 'पुष्कर' शब्द के निर्वचन में एक आख्यान मिलता है। इस आख्यान में इन्द्र वृत्र का वध करने के पश्चात् भी यह समझता रहा कि मैं वृत्र वध नहीं कर पाया हूं। अतः इन्द्र डर कर जलों में प्रवेश कर गया उसने जलों से याचना की और कहा - मैं डरता हूं मेरे लिये पुर का निर्माण करो। तब जलों ने अपना रस उसके ऊपर फेंका और उसके निमित्त पुर का निर्माण किया। अतएव **पूः -कृ** के आधार पर वह पूष्कर कहलाया। वही पूष्कर परोक्ष रूप से पुष्कर कहलाता है।[२०] शतपथ ब्राह्मण के इस उपाख्यान से ज्ञात होता है कि जलों का जो सूक्ष्म रूप है, वह अन्तरिक्ष में व्याप्त है। और उसी में विद्युत् रूप इन्द्र का निवास है। अन्तरिक्ष में वह पुष्कर है, जिसमें समस्त रस भरा हुआ है। यहीं विद्युत् को संरक्षण मिलता है। समस्त जलों के रस का भण्डार होने के कारण अन्तरिक्ष एक सरोवर के समान है। जिसका जल कभी नहीं सूखता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष के सादृश्य से पार्थिव सरोवर को भी पुष्कर कहा जाता है। पुष्कर के पार्थिव रूप से आज भी सब सुपरिचित हैं।

१०. सगर -अन्तरिक्ष के लिये **'सगर'** शब्द का प्रयोग केवल ०१ बार ही ऋक्संहिता में मिला है।[२१] मन्त्र में इन्द्र के लिये रची गई स्तुतियों

---

[१९] पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतान्युदकम्। पुष्करं पूजाकरं पूजायितव्यं वा। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव। पुष्करं वपुष्करं वा। निरुक्त, ५/१४

[२०] शतपथ ब्राह्मण, ७/४/१/१३ (इन्द्रो वृत्रं हत्त्वा नास्तृषीति मन्यमानो अपः प्राविशत्ता अब्रवीद् बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति। सः योऽपां रस आसीत्तमूर्ध्वं समदौहस्ताभस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात् पुष्करं है वै तत्पुष्करमाचक्षते परोक्षं, परोक्षकामा हि देवाः। शत.ब्रा. ७/४/१/१३

[२१] इन्द्राय गिरो अनिशित सर्गा अपः प्ररयं सगरस्य बुध्नात्। ऋग्वेदः १०/८९/४

के निस्सारण की उपमा अन्तरिक्ष (**सगरस्य**) से लगातार प्रवाहित होने वाले जलों से की गई है। सगररूप अन्तरिक्ष से प्रवाहमान जलों के भण्डार को 'सागर" इस कारण से ही कहा है। अन्तरिक्ष का सगरत्व उसमें जलों के निरन्तर प्रवहमानता के कारण से है। अन्तरिक्ष में इतना जल-भण्डार है, जो कभी सूखता नहीं, सदा भरा रहता है।

११. समुद्र - वेदों में समुद्र शब्द पार्थिव समुद्र तथा अन्तरिक्ष दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकार ने दोनों रूपों का निर्वचन किया है किन्तु दोनों के लिये भिन्न-भिन्न उत्पत्ति दी है। जो निर्दिष्ट पाँच प्रकार से है-

१. सम्-उद्-द्रु गतौ (समुद् द्रवन्त्यस्मादापः) अन्तरिक्ष का समुद्र नाम इस कारण है क्योंकि इससे विद्युत् द्वारा प्रताड़ित मेघस्थ जल एक साथ मिलकर उत्सरण करते हैं। पार्थिव समुद्र को समुद्र इस कारण कहते है क्योंकि पार्थिव समुद्र से जल ऊपर की ओर वाष्प बनकर जाता है।

२. सम्-अभि-द्रु गतौ (समभिद्रवन्त्येनम् आपः) पार्थिव व समुद्र से जल वाष्प बन कर ऊपर अन्तरिक्ष की ओर जाता है अतः अन्तरिक्ष को समुद्र भी कहते हैं। पार्थिव समुद्र को समुद्र इसलिये कहते हैं क्योंकि अन्तरिक्ष में स्थित जल वृष्टि द्वारा समुद्र में आता है अथवा सभी नदियाँ पार्थिव समुद्र में आकर गिरती हैं।

३. सम्-मुद (सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि) अन्तरिक्ष में उड़ान भरते पक्षी हुए उसमें आनन्दित होते हैं अतः अन्तरिक्ष को समुद्र कहते हैं।

४. सम्-उदक (समुदको भवति) अन्तरिक्ष अथवा पार्थिव समुद्र को समुद्र इस कारण कहते हैं कि उसमें सम्यक् रूप से जल विद्यमान रहता है।

५. सम्-उन्दी क्लेदने (समुन्नत्तीति वा) जल सबको भिगोता है अतः अन्तरिक्ष और पार्थिव समुद्र दोनों को ही समुद्र कहा जाता है।

उपर्युक्त सभी निर्वचन निरुक्त के अनुसार हैं।[२२] इन सभी निर्वचनों से हमें अन्तरिक्ष के सदा जलों से परिपूर्ण रहने का सङ्केत मिलता है। अन्तरिक्ष जलों का भण्डार है, जो सर्वदा सबको जीवन प्रदान करता है।

१२. **अध्वर**- मुख्य रूप से तो अध्वर यज्ञ का वाचक है किन्तु निघण्टु में यह अन्तरिक्ष वाचक पद के रूप में पठित है। इसका हेतु यह है कि अन्तरिक्ष में ही तो अग्नीषोमात्मक यज्ञ सम्पन्न हो रहा है। शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य भी कई वैदिक ग्रन्थ इसके प्रबल प्रमाण हैं। तद्नुसार ब्रह्माण्ड में यज्ञ की सर्वव्यापकता का बोध उसके विभिन्न तत्त्वों के साथ तादात्म्य कथन से भी होता है। कतिपय साक्ष्य इस प्रकार हैं-

अयं वै यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते।[२३] **एष वै यज्ञो यदग्निः।**[२४] **यज्ञ एव सविता।**[२५] **यज्ञः सोमो राजा।**[२६] **यज्ञो वै विष्णुः।**[२७] **यज्ञो वै विश्वारूपाणि।**[२८] **वरुणो वै यज्ञः।**[२९] **स्वर्गो वै लोको यज्ञः।**[३०] तैत्तिरीयारण्यक में अतिस्पष्ट रूप में अन्तरिक्ष यज्ञ का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से मिलता है -

अन्तरिक्ष में सतत सम्पन्न हो रहे यज्ञ का मेघहविर्धान (शकट) है, विद्युत् अग्नि है, वर्षा हविः द्रव्य है, शब्द वषट्कार है, जो गर्जना होती है

---

[२२] समुद्रः कस्मात् समुद्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनम् आपः, सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। निरुक्त, २/१०

[२३] शतपथब्राह्मण १/९/२/२०, ऐतरेयब्राह्मण, ५/३३

[२४] शतपथब्राह्मण, २/१/४/१९

[२५] गोपथब्राह्मण, १/१/३३

[२६] जैमिनीयब्राह्मण, १/२५९

[२७] शतपथब्राह्मण, १/९/३/९ तथा मैत्रायणिसंहिता, ४/११८

[२८] जैमिनीयब्राह्मण, १/७०

[२९] मैत्रायणीसंहिता, ३/७/९

[३०] कौषीतकी ब्राह्मण, १४/१

वह अनु वषट्कार है, वायु यज्ञ की आत्मा है और अमावस्या उस यज्ञ का स्विष्टकृत् है।[३१] इस उत्तम वर्णन के अनुसार तो अन्तरिक्ष (आकाश) में सर्वाङ्गपूर्ण यज्ञ सर्वदा सर्वकाल में अविराम सम्पन्न हो रहा है। इसी कारण से अन्तरिक्ष को 'अध्वर' (यज्ञ) भी कहा गया है। इस अन्तरिक्ष-यज्ञ से ही तो देवताओं को सृष्टि के धारण और संचालन की शक्ति प्राप्त होती है। जिसके अभाव में धरती पर जीवन असम्भव है। ऋतु-चक्र का संचालन भी तो इसी प्राकृतिक यज्ञ से हो रहा है। ऋतु रूप यज्ञ का आधार अन्तरिक्ष-यज्ञ ही तो है। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, षोडशी, गवामयन, आदित्यानामयन इत्यादि सत्रों का नैसर्गिक सम्पादन अन्तरिक्ष-संज्ञक विस्तृत आकाश में ही सम्पन्न हो रहा है। ब्रह्माण्ड निर्माण के प्रारम्भ से ही अन्तरिक्ष-यज्ञ की प्रक्रिया निर्बाध चल रही है। पृथिवी लोक में मानव यजमान एवं ऋत्विजों के द्वारा पार्थिव हविर्द्रव्यों से सम्पादित किया जाने वाला यज्ञ तो केवल इस प्राकृतिक यज्ञ की अनुकृति ही है। पुरुषसूक्त में जिस यज्ञ का उल्लेख मिलता है, वह यही अन्तरिक्ष में सतत सम्पन्न हो रहा सृष्टि यज्ञ ही तो है। अन्तरिक्ष में नित्य अविरत सम्पन्न हो रहे देवयज्ञ को समझे बिना अन्तरिक्ष-विज्ञान का अध्ययन अधूरा ही रहेगा।

वेद विज्ञान के तलस्पर्शी विद्वान् पं. मधुसूदन ओझा[३२] की दृष्टि में- यह आकाश भी एकान्तः शून्यमात्र नहीं है। विज्ञान में शून्यता के स्वरूप की कोई व्याख्या प्राप्त नहीं होती। जब तक यह शून्य रूप आकाश

---

[३१] तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षं वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावस्या स्विष्टकृत्। तैत्तिरीयारण्यक, २/१४१

[३२] भौतिकविज्ञान, मधुसूदन ओझा की दृष्टि में, अनुवादिका सुनीता चतुर्वेदी, पृष्ठ-२६

दिखाई देता है तब वह कोई विभु पदार्थ है। भारतीय वैज्ञानिक इसे 'इन्द्र' कहते हैं, पाश्चात्य विद्वान् इसे 'ईथर' नाम से जानते हैं। इस ईथर के कारण ही कम्पन विशेष से सिद्ध शब्दादि से भावों का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस अनन्त निराकार विश्वव्यापक विषय को भारतीय विद्वान् आकाश कहते हैं। यह इन्द्र नामक आकाश सभी प्राणियों की आत्मा है। इसीलिये कहा गया है कि इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, ये योगरूढ़ पदार्थ ही पाँच भूत कहे गये हैं। महाकाश से ही भूताकाश, प्रकृति एवं ब्रह्ममात्र व्यापी वाग् उत्पन्न होती है। इसलिये वेद में कहा है - **अथो वागेवेदं सर्वम्।**

समुद्र की ऊँची लहरों के समान यह कानों के पर्दों पर प्रतिघात करती हुई सुने जाने योग्य शब्दों को उत्पन्न करती है। अतः शब्द गुण वाले आकाश के सिद्ध हो जाने पर उसे तत्त्व रूप पदार्थ ही कह सकते हैं। किन्तु दृष्टि वालों को यह दिखाई नहीं देता। कहा भी गया है कि यह खम्भे का अपराध नहीं कि उसे अन्धा नहीं देखता। स्वामियोगेश्वरानन्द सरस्वती ने अपने 'ब्रह्मविज्ञान' बृहद् ग्रन्थ में 'आकाश' की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।[३३] तद्नुसार - यह आकाश दृश्यमान न होते हुये भी दर्शन का विषय बनता है। कोई इसको नित्य कहता है और कोई इसे अनित्य बताता है। यह कारणरूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य है। इसमें विभुता चारों भूतों की अपेक्षा है अन्य परमात्मा आदि की दृष्टि से नहीं। यह उनमें व्याप्त नहीं।

आकाश महाभूत का जिस सूक्ष्म अवस्था से इस स्थूल अवस्था में

[३३] ब्रह्मविज्ञान, प्रणेता योगेश्वरानन्द सरस्वती पृ०, १२२। प्रकाशकः योग निकेतन ट्रस्ट, गंगोत्री, उत्तरकाशी प्रथम संस्करण, १९६४

परिणाम हुआ है। आकाश की पूर्ववर्तिनी सूक्ष्म अवस्था शब्दतन्मात्रा ही आकाश का सूक्ष्मरूप है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार महान् आकाश विभु है। ऐसे ही आत्मा भी।[३४] वस्तुतः चारों भूतों की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है इसलिये थोड़े से अंश में इसकी तुलना ब्रह्म से की जा सकती है। आकाश की सूक्ष्मता में ब्रह्म का अन्वेषण अन्यभूतों की अपेक्षा सुगम है। आकाश एक ही पदार्थ है किसी अन्य की उसमें मिलावट नहीं है। पृथिवी से तो अन्य चारों भूत भी मिले हैं। जल में अग्नि, वायु, आकाश मिले हैं। अग्नि में वायु और आकाश, वायु में आकाश मिला है। इन सबमें मिलावट है। इनमें सूक्ष्म ब्रह्म की खोज या ब्रह्मदर्शन आकाश की अपेक्षा कठिन है।

स्वामिदयानन्द सरस्वती विज्ञान विषयक सभी आविष्कारों- विद्युत्, वायुयान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित आदि का मूल वेद में मानते हैं। उनकि दृष्टि में विज्ञान का अभिप्राय पदार्थ विज्ञान से है। आकाश के सूक्ष्म रूप अर्थात् आकाश-विज्ञान को समझने के लिये सत्यार्थ प्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय आवश्यक है। मनीषी दिवंगत बी.बी. चौबे अपने "**वेद विज्ञान चिन्तन**" ग्रन्थ में लिखते हैं- अन्तरिक्ष में अविरत हो रहे देवयज्ञ को समझे बिना अन्तरिक्ष-विज्ञान का अध्ययन अपूर्ण रहेगा। इसी ग्रन्थ के (पृ. ६६) में वे लिखते हैं- आधुनिक विज्ञान विषयक कई मान्यताओं में वैदिक मान्यताओं के आधार पर संशोधन भी किया जा सकता है।

---

[३४] वैशेषिकदर्शन, अ०, ७, आ०, १, सू० २२

भारतीय खगोल शास्त्र एवं काल-गणना

प्रो० (डॉ०) भाग चन्द चौहान[१]

प्राचीन भारत में सुदूर आकाश स्थित खगोलीय पिण्डों का अध्ययन करना (ज्योतिष शास्त्र) का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। इन बारे प्राचीन ग्रंथों में अपने ऋषियों द्वारा दिए गये अनेक सन्दर्भ हमें प्राप्त होते हैं। शास्त्रों में ज्योतिष को वेदों की आँख भी कहा गया है। पुरातात्त्विक तथ्यों के अनुसार भारत में खगोल शास्त्र का उदय निश्चित ही हड़प्पा सभ्यता (५०००-७००० वर्ष) से भी पूर्व तो हुआ ही है।[२] वेद भारतीय मनीषा के मूल स्तम्भ माने जाते हैं; जिनमें कई खगोलीय सन्दर्भ मिलते हैं। वेदों का काल जहाँ इतिहासकार १२०० ईसा पूर्व रखते हैं, वही खगोलीय सन्दर्भों के आधार पर कुछ इतिहासकार ६००० ईसा पूर्व मानते हैं। जबकि भारतीय वाङ्मय के अनुसार वेद अपौरुषय हैं और सृष्टि

[१] **भौतिकी एवं खगोल शास्त्र विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय वि०वि०, धर्मशाला, जिला काँगड़ा, (हि०प्र०) - १७६ २१५**

[२] Craniofacial reconstruction of the Indus Valley Civilization individuals found at ४५००-year-old Rakhigarhi Cemetery by W. J. Lee et al; Case Report of Anatomical Science International, Springer online, (२०१९).

के आरम्भ काल से मानव जाति का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

भारत में खगोल विज्ञान के उद्भव और उन्नति काल को पाँच खण्डों में बाँटा जा सकता है-

१) ७००० वर्ष से पूर्व
२) हड़प्पा और सिन्धु घाटी सभ्यता (२००० ईसा पूर्व वर्ष से ५००० ईसा पूर्व वर्ष तक)
३) २००० ईसा पूर्व वर्ष से ५०० ई० वर्ष तक
४) ५०० ई० वर्ष से १८०० ई० तक
५) आधुनिक काल (१८०० ई० से अब तक)

खगोल क्रियाकलाप के कई पुरातात्त्विक सन्दर्भ ७००० वर्ष से पूर्व भी मिलते हैं, जैसे अण्डमान से प्राप्त कैलेन्डर छड़ी लगभग १२००० वर्ष पुरानी है[३] तथा भारत में विभिन्न जगहों में लगभग २००० पत्थरों के चिन्ह जो खगोल गणना के लिए प्रयोग होते थे। इसके अतिरिक्त वेदों और वैदिक वाङ्मय में अनेक सन्दर्भ भी भारत की अति प्राचीन खगोल परम्परा को इंगित करते हैं।

पुरातत्त्व अध्ययन के अनुसार हड़प्पा और सिन्धु घाटी सभ्यता का काल लगभग ५००० ईसा पूर्व से २००० ईसा पूर्व वर्ष तक माना जाता है। खुदाई से प्राप्त अनेक अवशेष भारत की समृद्ध खगोल परम्परा के साक्षी हैं। नगरों में बने भवनों की बनावट, वास्तुकला के अनेक नमूनों का अनुस्थापन खगोल विज्ञान का अद्भुत प्रदर्शन करते हैं।

---

[३] Knowledge Traditions and Practices of India (CBSE Textbook Modules for Class XI) edited by Prof. Kapil Kapoor and Prof. Michel Danino, CBSE Delhi-११० ०९२ (२०१२); www.cbseacademic.in

ईसा के २००० पूर्व से ५०० ई० वर्ष तक के काल को आधुनिक इतिहासकार वैदिक काल मानते हैं, जो कि भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ और वर्तमान के अनेक शोध परिणामों के अनुसार सही नहीं बैठता। अध्ययन के अनुसार वैदिक काल कम से कम तो ५००० ईसा पूर्व वर्ष तक जाता ही है।[४]

आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, केरलीय गणित एवं खगोल केन्द्र (५०० ई. वर्ष से १८०० ई. तक) का समय भारतीय खगोल शास्त्र की एक लम्बी यात्रा का स्वर्णिम कालखण्ड माना जाता है। इस काल में खगोल विज्ञान तकनीकी से युक्त रहा है और बहुत सारी गणितीय और खगोलीय गणनाएँ हुई हैं जो आज के आधुनिक युग के शोध परिणामों से सत्यापित भी होती हैं। खगोल शास्त्र का यह समय 'सैद्धान्तिक काल' भी कहा जाता है। इस काल में गणित के नए आयामों और नियमों को भी खोजा गया है, जो ज्योतिष गणित के नाम से प्रयोग में लाये गए।

वैदिक और अन्य भारतीय ग्रन्थों से हमें अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जैसे नव-ग्रहों की संरचना, नक्षत्र की पहचान और स्थितियाँ, धूमकेतु आदि।[५] इसके अतिरिक्त सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण की गणना, ग्रहों

---

[४] History of Science in India

a) Vol. I: Part II: Astronomy, Published by National Academy of Science India (NASI) and The Rama Krishna Mission, Institute of Culture, Kolkata (२०१४); ISBN ९७८-९३-८१३२५-१ (Set).

[५] Pride of India - A Glimpse into India's Scientific Heritage; Published by Samskrit Bharati, New Delhi-११००५५ (२००६); ISBN ८१-८७२७६-२७-४.

के बीच की दूरियां, पृथ्वी गोलाकार है और अण्डाकार वृत्त कक्ष उनके घूमने का समय के बारे में तथा अन्य कई खगोलीय घटनाओं का विवरण भी विस्तार में मिलता है। यहाँ एक बात तो उल्लेखनीय है कि भारतीय ज्योतिष में आधुनिक विज्ञान की नामपद्धति से भिन्न नव-ग्रहों में सूर्य और चन्द्र को भी ग्रह माना गया है और पृथ्वी को ग्रह की श्रेणी में नहीं रखा गया है तथा राहू और केतु जिन्हें गणना में ग्रह कहा गया है, वास्तव में वे आकाश में सूर्य और चन्द्र के चक्र-वृत्त में दो चौराहा बिन्दु मात्र हैं, जो सूर्य-चन्द्र ग्रहण के कारण बनते हैं। अतः यहाँ एक बात तो समझ लेनी चाहिए कि आधुनिक विज्ञान में ग्रह शब्द और प्राचीन भारत की गणना के अनुसार ग्रह की अवधारणा में कुछ भिन्नता है, बिल्कुल समानता नहीं।

भारतीय काल गणना बृहद् स्तर पर आकाशीय पिण्डों और सूक्ष्म स्तर पर आँख की पलक का झपकना जैसे प्राकृतिक सन्दर्भों को आधार मानकर की जाती है जो कि पूर्णतया वैज्ञानिक है। संस्कृत भाषा में काल को '**कल संख्याने**', अर्थात् 'जो गिनती करता है', से परिभाषित किया गया है[६] अर्थात् जो कुछ भी अस्तित्व में है काल उसका हिसाब रखता है। काल का न कोई आरम्भ है और न ही अन्त। भारतीय काल-गणना में समय के मापन की एक अद्भुत नामपद्धति है, जो सूक्ष्मतम स्तर से लेकर विशाल समय (ब्रह्मा की आयु) तक या उससे भी बड़े समय की परिकल्पना करती है।

---

[६] Viśva ki Kālayātrā (The Cosmic Passage of Time) Kāla Purūṣa- Itihāsa Purūṣa by Vāsudev Poddār; Akhil Bhāratīya Itihāsa Sankalan Yojnā, New Delhi-११००५५ (२०००).

विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि की गतिशीलता का नाम ही 'काल' है। परन्तु भारतीय ऋषिप्रज्ञा, वेद, दर्शन, शास्त्र इससे भी आगे चलते हैं- काल का अस्तित्व सृष्टि की गतिशीलता में तो है ही परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति में भी है। काल उसके उत्पन्न होने पहले भी और विनाश होने के बाद में भी रहता है- निरन्तर चलायमान रहता है। अतः शास्त्रों में काल के स्वरूप को महाकाल की संज्ञा दी गयी है। व्यावहारिक भाषा में काल को हम सृष्टि के संहारक के रूप में प्रयोग करते हैं।

विज्ञान के अनुसार समय समस्त ब्रह्माण्ड के चतुर्थ आयाम के रूप में विद्यमान है, इसका निरपेक्ष स्वरूप विज्ञान की धारणा से परे है। विज्ञान आज कार्टेसियन के द्वैत सिद्धान्त से होकर एक सापेक्षवाद के चक्र में उलझकर रह गया है, जबकि कुछ दशकों से कालपुरुष के सम्पूर्ण रूप का चिन्तन करते हुए कुछ कदम एक नई दिशा में बढ़ाये अवश्य हैं। समस्त अस्तित्व का 'पुरुषविध सिद्धान्त' (एन्थरोपिक प्रिंसिपल) ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' तक पहुँचने का प्रयास है, इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय ऋषियों ने काल के अस्तित्व को जो समझा है, वह भौतिक जगत् की गतिशीलता को लेकर तो चलता ही है परन्तु परा-भौतिक जगत की वास्तविक स्थिरता और सापेक्षिक सक्रियता को भी समेटे हुए रहता है। काल निरन्तर है, चिरगामी है, अनादि है, रुद्र है एवं समस्त ब्रह्माण्ड का मूल कारण भी है।

कालयात्रा सदैव से चली आ रही है परन्तु आधुनिक विज्ञान एक जगह रुक जाता है और मानता है कि (काल) समय निरन्तर नहीं है किसी एक बिन्दु से आरम्भ होता है। जब सृष्टि उत्तपन्न होती है अर्थात् जब 'बिग-बैंग' होता है, तब साथ ही दिक् और काल की उत्पत्ति मानी

जाती है। परन्तु ऐसा मानने से वैज्ञानिक कई प्रकार की उलझनों से घिर भी जाते हैं; जैसे उससे पहले क्या था? क्या वहाँ समय (काल) था? कोई किसी भी प्रकार का अस्तित्व था? यदि नहीं तो उसका क्या कारण था? अतः प्रश्न पर प्रश्न उठते रहते हैं, अर्थात् कुछ उत्तर मिलते रहते हैं परन्तु प्रश्न बदलते रहते हैं।[७]

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर वर्तमान स्थिति तक कालयात्रा का वर्णन किया है। विख्यात ब्रह्माण्डशास्त्री (कोस्मोलोजिस्ट) प्रो० कार्ल सागन के अनुसार विश्व की प्राचीन काल-गणनाओं में से भारतीय कालयात्रा ही मात्र एक है, जो आधुनिक विज्ञान के साथ मेल खाती है, यह वैदिक विज्ञान आधुनिक विज्ञान की खोज से सत्यापित किया जा सकता है-[८] *Vedic Cosmology is the only one in which the time scales correspond to those of modern scientific cosmology. Vedic Cosmology is yet another ancient Vedic science which can be confirmed by modern scientific findings. ...the cosmology of the Vedas closely parallels modern scientific findings.*

आपको जानकर ख़ुशी होगी कि ये पंक्तियाँ स्विट्जर्लैंड के जनेवा में स्थित भौतिक शास्त्र की अत्यन्त आधुनिक प्रयोगशाला (सी.इ.आर.एन.) परिसर के अन्दर एक चौराहे में स्थापित अलौकिक

---

[७] The Tao of Physics- An Exploration of the Parallels between Modern Physics and Eastern Mysticism by Fritjof Capra; Flamingo- An Imprint of Harper Collins Publishers, UK (१९९१); ISBN ९७८-०-००-७२७२९२-१.

[८] Cosmos by Carl Sagan; Ballatine Books, New York (१९८०).

नृत्य करते हुए भगवान् शिव 'नटराज' की विशालकाय मूर्ति में अङ्कित की गयी है।

इस सन्दर्भ में यहाँ एक आप-बीती घटना का वर्णन करना मुझे आवश्यक लग रहा है। स्वयं को आश्चर्य एवं गर्वान्वित होने का यह सौभाग्य प्राप्त हुआ वर्ष २००५ में, जब मुझे जनेवा (स्विट्ज़रलैंड) में भौतिकी प्रयोगशाला जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। एक दिन दोपहर का भोजन करने के बाद बस यूँ ही टहल रहा था कि मुझे लगा सामने नृत्य करते हुए भगवान् शिव विशालकाय 'नटराज' के रूप में प्रकट हो गए। कुछ क्षणों के लिए तो मैं स्तब्ध हो गया- सोचा कि एक सपना देख रहा हूँ, क्यूँकि विदेश में और वो भी संसार की सबसे बड़ी विज्ञान की प्रयोगशाला में, भारत भूमि से कई हजारों योजन दूर इस स्थिति की कल्पना करना मेरे लिए अत्यन्त कठिन लग रहा था। परन्तु वह अटल सत्य मेरे समक्ष था। उस समय आस-पास कोई भी नहीं; एक सुनसान स्थिति - मैं अच्छी तरह से उस मूर्त रूप को निहारता रहा था।

कुछ ही समय बाद मेरी सहयोगिनी वैज्ञानिक डॉ० मरग्रिदा रबेलो टहलते-२ उस स्थान पर पहुँचती है तब मैंने गर्व से उसे बतलाया कि यह मूर्ति अपने भगवान् शिव के नटराज रूप की है, जिसमें नृत्य की एक-एक मुद्रा ब्रह्माण्ड के समस्त क्रिया कलाप के दर्शन करवा रही है। इस तरह मैंने उसको भारत की समृद्ध ज्ञान-विज्ञान परम्परा का परिचय करवाया।

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि ऋषियों ने काल के विभिन्न मापों को एक ओर तो खगोलीय पिण्डों, सितारों व आकाश-गङ्गाओं की गति से जोड़ा है और दूसरी ओर प्रकाश की गति एवं अणु के आकार तथा पलक झपकने आदि जैसी सूक्ष्म इकाईयों को आधार मान कर

गणना की है। भारतीय मनीषियों ने काल को विभिन्न खण्डों में भी बहुत ही सुन्दरता से समझा है और प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय है कि काल-खण्डों की गणना सूक्ष्मतम माप से लेकर विशाल स्तर तक अलग-२ संज्ञाओं से की है।[१]

ऋषि भास्कराचार्य के अनुसार काल का सूक्ष्मतम मान 'त्रुटि' है जो कि एक सैकिण्ड का ३३७५० वाँ भाग है, जबकि 'निमेष' एक सैकिण्ड का ११.२५ वाँ भाग है। इस प्रकार '१ काष्ठा' १.६ सैकिण्ड व '१ कला' ४८ सैकिण्ड के बराबर माना गया है। महर्षि वेदव्यास के अनुसार काल का सूक्ष्मतम माप 'परमाणु' है जो कि एक सैकिण्ड का ३७९६९ वाँ भाग है, फिर 'अणु' जो कि एक सैकिण्ड का १८९८४ वाँ भाग, और फिर 'त्रसरेणु' है जो कि एक सैकिण्ड का ६३२८ वाँ भाग है, इस प्रकार त्रुटि, वेध, लव, निमेष, क्षेम, काष्ठा, लघु, नाड़िका, मुहूर्त्त व अहोरात्र चलता है। यहाँ हम भारतीय काल-गणना की गुणवत्ता का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य देख रहे हैं कि आधुनिक विज्ञान काल गणना में सबसे सूक्ष्म माप की संज्ञा सैकिण्ड कहलाती है जबकि भारतीय काल-गणना में एक सैकिण्ड के ३३७५० वें भाग को भी संज्ञा दी गयी है।

ठीक इसी आधार पर काल के सामान्य एवं विशाल माप के लिए आधुनिक विज्ञान में सेकिण्ड, मिनट, घंटा से लेकर सबसे बड़ी संज्ञा 'ईयर' (वर्ष) है बाकि इसी के आधार पर नामाङ्कन किये गए हैं- 'मिलियन ईयर', 'बिलियन ईयर' और 'ट्रिलियन ईयर', इत्यादि। जबकि

[१] Indian Time Reckoning in Broader Perspective (Vistrita Parivesh mein Bhāratīya Kāla Gananạ̄) by Vijay Mohan Kumar Puri; Bhāratīya Itihāsa Sankalan Yojnā Samiti, Himachal Pradesh (२००६).

भारतीय काल गणना में अहोरात्र (एक दिन), सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, उत्तरायण और दक्षिणायन, वर्ष से लेकर युग (पञ्च-वर्षीय, द्वादश-वर्षीय, षड्-वर्षीय), देव वर्ष (३६० वर्ष), सप्तर्षि युग (२७०० वर्ष), कलियुग (४३२००० वर्ष), द्वापर (२*४३२००० वर्ष), त्रेता (३*४३२००० वर्ष), सतयुग (४x*४३२००० वर्ष), महायुग (१०x*४३२००० वर्ष), मन्वन्तर (७१ महायुग+ १ सन्धिकाल; १ सन्धिकाल= १ सतयुग), कल्प (१४ मन्वंतर+१५ सन्धिकाल), ब्रह्मा आयु (२*३६००० कल्प); इस तरह ब्रह्मा की कुल आयु ३११.०४ ट्रिलियन वर्ष आती है। यह काल-खंड सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति व संहार का माना जाता है।

ऋषियों ने आकाशीय पिण्डों की पृथ्वी से दूरियाँ और व्यास के ज्ञान से एक जादुई संख्या १०८ ढूंढा है और इसी आधार पर यह ज्ञान जनमानस तक पहुँचाने के लिए जप-माला के १०८ मनकों में तथा दिक् और समय के माप को 'सङ्कल्प पाठ' के माध्यम से व्यवहार में लाने की एक सुन्दर व्यवस्था दी है। परन्तु आजकल दुर्भाग्य से वैज्ञानिक पक्ष खो जाने के कारण यह ज्ञान न तो पण्डित को पता रहा है और न ही यज्ञ करने वाले यजमान को। समय आ गया है कि संस्कृत और विज्ञान के प्राकृतिक मेल को समझने का प्रयास किया जाये और जनमानस को भारतीय मनीषियों की मेधा का परिचय करवाया जाये। तभी भारत का युवा अपनी परम्पराओं पर गर्व कर सकेगा और आत्मबल सहित भारत पुनः विश्वगुरु बनने में अग्रसर होगा।

ऋग्वेदे जलविमर्शः

डॉ० विजयलक्ष्मीः[1]

भूमिका - इदमापः प्रवहत यत् किं च दुरितं मयि। यद् वा अहम् अभिदुद्रोह यद् वा शेपे उतानृतम्।[2] ऋग्वेदस्येयमृचा जलमाहात्म्यं प्रतिपादयन्ती कथयति यत् मयि येऽपि दोषा दुरितानि दुर्गुणा वा सन्ति, विश्वासघातो द्रोहो वा यदपि आचरितो मया, येऽपि अपशब्दाश्च मया प्रयुक्ताः तान् सर्वान् आपः प्रवहन्तु। अत्र जिज्ञासेयं समुदेति यज्जलेन कथमिदमान्तरिकं शुद्धीकरणं सम्भाव्यते? यदि कथयामः शरीरशोधनेन क्रमशः मनश्शुद्धिरपि भवितुमर्हति, परं प्रत्यक्षप्रमाणदृशा सिद्धान्तोऽयं न सुस्थिरीभवति यतोहि लोके अद्यत्वे प्रायः समस्ताः जनाः शरीरेण वेषेण च स्वच्छाः निर्मलाश्च सन्ति परम्मनसा तुन तथा। विकसितदेशेषु तु नगराणि, गृहाणि, हर्म्याणि, अकूपाराणि, सर्वाणि स्थानानि, अयनानि, उपवनानि, सरांसि, स्रोतांसि च पूतानि इव प्रतिभान्ति किन्तु इदमपि तथ्यं यत् असङ्ख्या आधयो व्याधयः तत्रापि वर्तन्त एव। अथ च मन्त्रे तु प्रार्थयिता न केवलं देहशुद्धिकामोऽपितु अद्भिः प्रायशः अन्तःकरणस्य शुद्धिरपि

---

[1]**आचार्या, सनातनधर्ममहाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्।**

[2]ऋग्वेदः १.२३.२२

अभिलषिता प्रार्थनया। आचार्यपतञ्जलेः मतमस्माकं प्रमाणमस्मिन् विषये।

व्याकरणस्य **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनं** नाम्ना प्रथितानां प्रधानानां पञ्चानां प्रयोजनानां वेदस्य रक्षा अर्थात् वेदानामर्थावबोध एवोद्देश्यम्। वैदिका अर्थाः ऋषीणां निर्दिष्टष्वेवार्थेषु अध्येतृभिः, व्याख्याकारैश्च ग्राह्याः स्युरित्यभिप्रायः। स्पष्टं मतं मतिमतां यत् वैदिकानां शब्दानामर्थज्ञानाय व्याकरण- निघण्टु- ब्राह्मणादीनि अध्येयानि। ततः तत् तत् प्रकरणविशेषे तस्य पदस्य कोऽर्थ इति विवेकचक्षुषा विवेचनीयम्। यतोहि लौकिकेषु वैदिकेषु च पदेषु अर्थस्य महान् भेदः। अत्र प्रकरणप्राप्तस्य आपः पदस्य प्राणाः,[३]अमृतम्,[४] भेषजम्,[५] ओषधीनां रसः,[६] क्षीररसाः,[७] अन्नं,[८] वज्रः,[९] वीर्यम्,[१०] अर्कः,[११] यज्ञः,[१२] पशवः,[१३] देवाः,[१४] कामाः[१५] चादयः अनेकार्थाः वैदिककोशग्रन्थेषूपलभ्यन्ते। प्रकरणे अस्मिन् कतमोऽर्थो वरीयान् इति विमृशामस्तावत्।

---

[३]शतपथब्राह्मणम् ३.८.२.४, जैमिनीयोपनिषद् ३.१०.९, तैत्तिरीयब्राह्मणम् ३.२.५.२

[४]तदेव १.९.३.७,४.४.३.१५, कौषीतकिब्राह्मणम् १२.१

[५]गोपथब्राह्मणम् (उत्तरभागः) १.२५, ताण्ड्यब्राह्मणम् ८.७.८

[६]शतपथब्राह्मणम् ३.६.१.७, ३.३.३.१८

[७]ताण्ड्यब्रा. १३.४.८

[८]शत. २.१.१.३, ऐतरेयब्रा. ६.३०

[९]तदेव १.१.१.२७

[१०]तदेव ५.३.४.१

[११]तदेव१०.६.५.२

[१२]ऐत.ब्रा. २.२०. कौ.ब्रा. १२.१

[१३]तदेव १.८

[१४]तदेव २.१६, कौ.ब्रा.११.४

[१५]शत. १०.५.४.१५

जल-विमर्शः -

आप्लृ = व्याप्तौ अर्थात् व्याप्नोति चराचरमिति आपः। विज्ञानानुसारमपि ब्रह्माण्डे तथा ब्रह्माण्डस्य प्रतीकात्मके अस्मिन् शरीरे च ७०% जलमस्ति। भावोऽयं यद् **अपाम्** स्वरूपं व्याप्तेः प्रतिनिधित्वं करोति, भवेन्नाम तज्जलं, भेषजं, रसः, अन्नं वा। ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य द्वात्रिंशत्तमे अस्मिन् सूक्ते मन्त्रादस्मात् पूर्वं पठितं मन्त्रत्रयमवलोकनीयम्, तद्यथा-

अप्स्वन्तरमृतप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः।

आपः पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे।[१६]

अत्र मन्त्रेषु भूयो भूयः **भेषजम् इति पदं** समायातम्। भेषं रोगं जयति इति अर्थात् जलेन रोगनिवृत्तिर् जायते, अद्भिः अनामयमवाप्यते। **अश्मा भवतु नस्तनूः**[१७] भगवत्याः श्रुतेरयं निर्देशः यत् मानवस्य शरीरं ग्रावावत् दृढं भवेत्। **शरीरमाद्यं खलु** धर्मसाधनम्[१८] महाकवेः कालिदासस्यायमुद्घोषोऽपि चेतयति लोकान् स्वास्थ्यसंरक्षणाय। **पहला सुख नीरोगी काया** लोके प्रचलितेन अनेन आभाणकेनापि स्वास्थ्यस्य महत्तोररीकृता। जगति जनैः **जीवनस्य नैकविधेषु सुखेषु आरोग्यम् प्रथमं** सुखम्स्वीकृतम्। स्वस्थं शरीरमेव स्वस्थस्य मनसः हेतुभूतं मतम्। सुखसंवर्धने मनोवपुषोः अङ्गाङ्गिभावविषये ऐकमत्यं पौरस्त्यानां पाश्चात्यानां प्राचीनानामर्वाचीनामाध्यात्मिकानां लौकिकानाञ्च। न केवलं

---

[१६]ऋग्वेद १.२३.१९-२१

[१७]अथर्ववेदः २.१३.४, ऋग्वेदः ६.७५.१२

[१८]कुमारसम्भवम् ५.३३

साधकाय अपितु अखिलाय ब्रह्माण्डाय समग्रं स्वास्थ्यमावश्यकम्। पशवः, पक्षिणः, पुष्पाणि, फलानि, वनस्पतयः, वातावरणमिति सम्पूर्णस्य सुपुष्टेः प्रमुखं कारणं जलमेव। समग्रेयं संसृतिः सौरभं सम्पादयेदेतदर्थमपि आपः शंयोरभिस्रवन्तु इति अपरिहार्यम्। वृष्टिजले तथाविधं किमपि विशिष्टं पुष्टिवर्धनं तत्त्वमस्ति येन विनापि खाद्येन (खादेन), उर्वरकेण वावर्षतौं पर्वतानां वृक्षवनस्पतीनां सौन्दर्यं दर्शनीयं जायते केवलं वृष्टेः वारिणैव सम्पूर्णा प्रकृतिः प्राप्तप्रसादेव प्रसीदति। वृष्टिजलममृतायते वृक्षवनस्पतीनां विश्वतो विकासाय। वेदभाष्यकारः सातवलेकर महोदयः वृष्टिजलविषये लिखति-

दिव्यजल वह है, जो मेघों से वृष्टि से प्राप्त होता है, वृष्टि का जल घर में शुद्ध पात्रों में सङ्गृहीत करना चाहिए। इस प्रकार सङ्ग्रह किया हुआ और बन्द पात्र में रखा हुआ जल एक वर्ष तक उत्तम प्रकार रहता है और बिगड़ता नहीं। यही जल पीने से शरीर शुद्ध होता है। उपवास करके यदि यह ही विपुल मात्रा में पिया जाए तथा बस्ति आदि के लिए यही बरता जाए तो शरीर की आन्तरिक शुद्धि उत्तम रीति से होती है। यकृत् भी शुद्ध होता है। आँतों के दोष दूर होते हैं, अन्यान्य मल हट जाते हैं। प्रायः इस प्रयोग से सब रोग दूर हो जाते हैं और मनुष्य तेजस्वी, सुदृढ़ और वीर्यवान् होता है।... इस जल में और विविध औषधियों के रस मिलाए जाएंगे तो लाभ विशेष होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो दोषों को धोती है, उसे ओषधी कहते हैं अतः औषधियों के रस योग्य प्रमाण वृष्टि जल में मिलाने से बहुत लाभ होना संभव है। कौन से रस मिलाने हैं, यह विचार दोषों और रोगों के अनुसन्धान से निश्चय करना चाहिए।[११]

[११]सातवलेकरभाष्यम्, अथर्ववेदः ७.८९.१,३

अमलं जलं मलीकुर्वन् जनः दण्डभाग्भवतीति रामायणप्रमाणाज्ज्ञायते। स्वमातरं केकैयीं प्रति भरतः कथयति-

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके।

यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः।[20]

पूजाविधेः पूर्वं स्नानाय, तत आचमनाय शुद्धं जलमपेक्षितम्। अशुद्धेन जलेन कृतमाचमनं सद्यः प्रविष्टसाधकस्य साधनायाः गतिं मन्दमपि कर्तुं सम्भवति। योगोऽपि निरामयेन वपुषैव साधितो भवति। हिमालये सदृशे पर्वते साधनायाः अन्यतमं कारणं तत्रत्यं स्वच्छं जलमपि वर्तते, यतोहि पर्वतानां खनिजलवणयुतं चुम्बकमयं (मैग्नेटाइज्ड) जलं ऊर्जां तीव्रवेगेन (Energy booster) वर्धयति। ऋग्वेदस्य कथनमपि तथ्यमिदं पुष्णाति, तद्यथा-

उपह्वरे च गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।[21]

पर्वतोपत्यकासु तपोनिरतेन तापसेन कायान्तःकरणात्मनां **परिशोधनं विधाय,** कामक्रोधद्रोहादीन् विकारान् तनूकृत्य **बहुविधाः** सिद्धयः साध्यन्ते। कथयितुं शक्यते यत्शरीरमनसोः मार्जने, शोधने च जलस्य महती भूमिका। योगिना तु विशेषेण निरामयेन भाव्यमिति विचारयता आचार्येण पतञ्जलिना योगस्य अष्टाङ्गेषु आसनप्राणायामौ अन्यतमौ मतौ। साम्प्रतं आसनप्राणायाम इति अङ्गद्वयं इयत् महत्त्वपूर्णमभिमतम्मनुष्यैः यद् योगनाम्ना एतयोः द्वयोरेव अङ्गयोः व्यवहारो व्यापारो विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्तो विद्यते। स्वास्थ्यसंरक्षणे जलस्य महती भूमिका। अशुद्धं वारि आन्त्रशोथ-आन्त्रज्वर-उदरपीडा-उदरकृमयः-

---

[20] अयोध्याकाण्डे ७५.५६

[21] ऋग्वेदः ८.६.२८

मस्तिष्कावरणशोथ - हैपेटाइटिसादयः अनेकान् रोगान् जनयति। विश्वस्वास्थ्यसंघटनानुसारं विकासशीलदेशेषु ८०% रोगाः अशुद्धेन जलेन जायन्ते। लोकानामनवधानताकारणेन अशुद्धजलमामयं जनयति चेदनामयमपि सम्पादयति जलचिकित्सा, श्रुतेर्वचांसि विषयममुं सूचयन्ति। तद्यथा-

आपः इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।[२२]

साम्प्रतिके काले प्रचलितेषु चिकित्साविधिषु जलचिकित्सा अन्यतमं स्थानं भजते। अतः जलस्य शुद्धिः पावनत्वञ्च संसारे समेषां स्वास्थ्याय साफल्यायचापरिहार्यम्। प्रसङ्गेऽस्मिन् सर्वथानुकार्यमेवोदीरितमृषिणा-

शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।[२३]

अर्थात् दिव्यगुणयुक्तं जलम् अभीष्टकार्यसम्पादनाय पानाय च कल्याणमयं स्यात्, अस्मत्कृते परितः शिवं वर्षतु, मङ्गलमातनोतु। प्रश्नः समुदेति जलं कथं स्यात् दिव्यगुणसमन्वितः? वारिशोधनयन्त्रमाध्यमेन जलं स्वच्छं तु भवति परं दिव्यं भवितुं तु नार्हति। आध्यात्मिकाः वदन्ति यदि प्रयोगात्पूर्वं जलमादाय शान्तेन स्वान्तेन उदात्तभावैः प्रेम्णा सह जलमवलोकयेत्, ततः तत् जलं प्रयुञ्जीत चेज्जनः, तदा जलस्यास्य गुणवत्ता वर्धते। कियती मात्रायां वर्धते इत्युक्ते यावन्मात्रायां प्रयोक्तुः अन्तःकरणात्मनोः पावनत्वं वर्तते तावन्मात्रायां पदार्थशुद्धिर्भविष्यति। अवधेयमस्ति यदत्र आत्मनोरपि शुद्धतापेक्षिता, न तु नितान्तमन्तः

---

[२२]ऋग्वेदः १०.१३६.६

[२३]यजुर्वेदः १६.१२

करणस्य। निर्गतनिखिलकल्मषास्तु जलं दिव्यमपि कर्तुं समर्थाः भवेयुः। अस्मिन् विषये आमिषाशिनः तर्कयन्ति तर्हिस्तु अनेन विधिना आमिषमपि शोधयेत्, अखाद्यवस्तुजातमपि खाद्यरूपेण परिवर्तयेत् सत्त्वप्रधानो जनः। नहि, सर्वथा न। प्रथमस्तु शुद्धात्मनि अशुद्धचिन्तनमाचरणमसम्भवमेव यतोहि साधनायाः योगस्य च आरम्भ अहिंसया भवति, अतस्तत्र हिंसामूला विचाराः स्थानं न लभन्ते। आचार्यपतञ्जलिना यमान् सूत्रयता **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमाः**[२४] सूत्रे अहिंसायाः सर्वप्रधानत्वं सूचितम्। सूत्रमिदं व्याख्यायता व्यासवर्येणालेखि- **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते**।[२५] द्वितीयं कारणमिदमस्ति यत् सामिषे भोजने, पेये वा असङ्ख्यकाः करुणक्रन्दनयुताः तरङ्गा भवन्ति येषामनुभूतिः शोधनञ्च सामान्येन मानवेन ज्ञातुं कर्तुं वा न पार्यते। योगी च अखाद्यं खाद्यरूपेण न परिवर्तयति यतोहि एतादृशेन आचरणेन ऋतनियमस्य उल्लंघनं भवति। जनो यथा यथा संवेदनाविरहितो भवति तथा तथा तस्मिन् करुणादयो भावाः क्षीणाः जायन्ते तथ्यमिदमामिषभोजिनां निरामिषभोजिनाञ्चेतिहासेन जीवनेन व्यवहारेणापि स्पष्टं जायते यत्रैकतः निरामिषाः न तथा कठोराः अपरतश्च सामिषाः प्रायेण क्रूरतापराः दृश्यन्ते। कथयितुं शक्यते यत्ते बन्धुबान्धवान् नैजां सन्ततिं प्रति तु करुणापराः दृश्यन्ते। वस्तुतः तत्र मोहः कारणं न करुणा। मोहस्तु विकारत्वेन परिगणितः प्राज्ञैः, अनुदारताया अवनतेः सूचकः तत्रैव करुणा सर्वेषां

---

[२४] योगदर्शनम् २.३०

[२५] तत्रैव व्यासभाष्यम्।

सत्त्वानां कृते शुद्धानां निर्मलानां भावानां भाविका। कालिदासेन तु अचेतनो मेघोऽपि मृदुहृदयत्वात्करुणावृत्तिर्मतः।[२६] **शन्नो देवीरभिष्टय...** मन्त्रे पठितस्य अभिष्टये पदस्य विषये अन्यापि एका आशङ्का क्रियते यल्लोके मानवानां बहुविधा अभीष्टा भवितुमर्हन्ति। भवेन्नाम कस्यापि अवनतिः, तस्य धनसम्पत्तेः सन्ततेर्वा नाशः, कस्या अपि जातेः, देशस्य, धर्मस्य वा समूलोच्छेदः। इत्थं भूतानामभीष्टानां का गतिर्भवेत्? प्रश्नस्यास्य समाधानं मन्त्रस्य **शम्** इति पदेन कृतमृषिणा। अभीष्टये शं स्यात्, अभीष्टस्य फलमस्ति **शम्।** अभीष्टस्य परिणतिः सुखदा, भद्रा, कल्याणपरा स्यात्। अपि च अभि+इष्टम् अत्र **अभि** उपसर्गः साकल्यार्थस्य सूचकः। **अभिज्ञः** पदं स्पष्टीकुर्वता कल्पद्रुमकोशकारेण लिखितम्- **अभि साकल्येन जानाति।** यथा- अभ्युदयः। मन्त्रे नः पदमपि पठितमस्ति। नः अर्थात् अस्माकं सर्वेषां कृते। **एवं सर्वेषां कृते यद् भवति** तत्तु अभ्युदयाय कल्याणायैव भवति न विनाशाय। सर्वे भवन्तु सुखिनः इति तु सम्यक् परमितो विपरीतं न श्रूयते। मां मदीयञ्च विहाय अन्ये स्युः दुःखसरसि निमग्नाः, एवंविधं चिन्तनं तु लघुचेतसां भवितुमर्हति, तत्र ममत्वेनाभिप्रेतो भवेन्नाम कोऽपि धर्मः, सम्प्रदायः, देशः, स्थानविशेषः, कापि जातिः, सन्ततिः, संस्था, बान्धवाः, परिवारो वा। एकमन्यदपि कारणं सर्वेषां विनाशसदृशानां विचाराणामप्राप्ते, अश्रवणे यदुदारचेतसि तु पराहितचिन्तनं न सम्भाव्यते तथा अनुदारः सर्वथा स्वार्थपरो भवति।

भावितेन जलेन लाभो जायत इति दैनन्दिनेनक्रियाकलापेनापि द्रष्टुं शक्यते यद् दुःखिताय जनाय हितेच्छुः प्रेम्णा सान्त्वनावचांसि कथयति चेत्तेनापि आर्त्तः जनः सुखमनुभवति, कष्टश्चापि अस्य जायते न्यूनः।

---

[२६]उत्तरमेघः ३३ प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।

एवमेव अन्तःकरणेन आत्मना वा परिपूतं भावितं वा जलं प्रभावं नोत्पादयिष्यति इति न। यद्यपि बहूनि कारणानि जनमानसे प्रभावोत्पादने अनुत्पादने परमेवमपि दृश्यते यत् येन सह यस्य यादृशः सौहार्दो भावो वा तथैव तस्य प्रभावः श्रोतरि, अनुकर्तरि दृश्यते। यदि सर्वेषु व्यवहारेषु प्रकृतौ च कारणकार्यस्यायं शाश्वतो नियमो निभाल्यते, तर्हि जलविषये, पेये सम्बन्धे, भोजनविधौ विधानस्यास्य निषेधो न कथमपि भवितुमर्हति। भावानुसारं न्यूनता अधिकता भवेदित्यपि अवितथम्। काममूलो वै सङ्कल्पः कल्पैः उपनिबद्धस्य उपनिषदामस्य कल्पस्यापि आधारो भावानां गहनतैव। छान्दोग्योपनिषदि जलोपासनायाः फलं ज्ञापयता उल्लिखितम्- **स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँस्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति।**[२७] एकमन्यमुदाहरणमवलोकयामः **अब्भक्ष वायुभक्ष। अप् एव भक्षयति। वायु एव भक्षयति। अनेन** आचार्यपतञ्जलिप्रमाणेनापि जलवाय्वोः गुणगरिमा स्फुटो भवति। अद्यापि **ब्रेथरियनिज्म (प्राणप्रणाली भारतीयपरम्परायाम्)** एकः विधिः प्रचलति, राद्धान्तोऽयं वायौ आधृतोऽस्ति। अस्य पालयिता **ब्रेथरियन्स नाम्ना ज्ञायते।** बहवो जनाः अस्मिन् विधौ सिद्धहस्ताः सन्ति इति श्रूयते। विलीब्रूक्स अभिधो जनः **ब्रेथरियनिज्म संस्थायाः** संस्थापकः। प्रह्लाद जानी इमे साधुमहानुभावा उद्घोषयन्ति यत् तेन चत्वारिंशत्वर्षैः न किमपि खादितम्। हीरा रत्न मानेक अयमपि महोदयः सूर्य-ऊर्जाबलेन जीवति। अनेन विवरणेन सिध्यति यद् विधिना प्रयुक्तानि, भूरिभावैः भावितानि जलादीनि महाभूतानि महोदयाय कल्पन्ते।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु... मन्त्रेऽस्मिन् समायातम् अमृतपदं निरूपयामः। वैज्ञानिकदृशा पदार्थानां स्थूलसूक्ष्मनाम्ना भेदद्वयमङ्गीकृतम्। भैतिकी (Physics)- अनुसारं Classical (चिरसम्मत) Mechanism

---

[२७]छान्दोग्योपनिषद् १०.७.२

वस्तुनः स्थूलरूपे कार्यं करोति तथा क्वान्टम मैकेनिज्म पदार्थस्य सूक्ष्मरूपेषु प्रवर्तते। अनवरतपदार्थसाधनारतैः, शोधनिरतैः, शेमुषीसम्पन्नैः, परिणामतत्परैः, प्रयोगपुरस्सरैः वैज्ञानिकैः विज्ञानमाध्यमेन विश्वस्मिन् विश्वे विविधा वरेण्या अन्वेषणाः कृताः। गवेषणा इमाः पदार्थानां रूपद्वयमादायैव गवेषिताः सन्ति, आभिः अविश्वनीयाभिः, अद्भुताभिः प्रतिदिनं वर्धमानाभिः गवेषणाभिः समस्तः संसारः सुखसरोवरे, सौविध्यसागरे संसरन् संचरन् च भौतिकीमुन्नतिमनुभवति। आध्यात्मिकदृष्ट्या स्थूल (दृश्य) - सूक्ष्म - कारणाख्यानि त्रीणि रूपाणि वस्तूनाम्। रूपत्रयस्याभिज्ञायै नैरन्तर्ययुक्ता सुदीर्घा गहनतमा च साधना अपेक्षते।[२८] अद्यत्वे प्रयोगाणां युगम्। यत् प्रत्यक्षं तदेव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियते सामाजिकैः। अधिगतपरमार्थान् उपगम्य उपास्य च सत्त्वसम्पन्नाः सात्त्विकाः साधकाः साधनायां संलग्नाः स्युश्चेत्तदा मन्त्रोक्तानि वचांसि यथार्थसम्पन्नानि सम्पत्स्यन्ते। प्रयत्नः आधिभौतिकस्तरे भवेदथवा आध्यात्मिकस्तरे, सर्वत्रयस्य यदपि तलं तदनुसारमेव फलं लभते। जलस्य कारणरूपमभिजानन् जनो जलस्य अमृतस्वरूपं लभते अर्थात् यो विवेकी जलस्य महाभूतरूपमतिकम्य तन्मात्ररूपं रसमश्नुते सो हि जलस्य अमृतत्वमवाप्नोतीति। अस्य योगिनः सुदीर्घमायुष्यं जायते। इदमपि अवधेयमत्र यद् यावती निष्ठा जागतिकपदार्थेषु जनानां वैज्ञानिकानामस्ति, मन्त्रसिद्धये तावती निष्ठा, तथाविधं समर्पणं तु आवश्यकमेव। उच्चतरोद्देश्याय गहनतरा तपस्या तपनीया भवतीति प्रबोधयता कुमारसम्भवकारेण अतीव समीचीनमभिहितम्-

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते हि कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।[२९]

---

[२८]योगदर्शनम् १.१४ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

[२९]कुमारसम्भवम् ५.२

मन्त्रे अपामोषधरूपमपि ज्ञापितम्। अथर्ववेदेऽपि अभिहितम्-

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम्।

तेनेममस्माद्यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्।[३०]

अस्मिन् सूक्ते औषधीनां जीवला, जीवन्ती, अरुन्धती, मधुमती आदीनि नामान्यपि उद्धृतानि सन्ति। तत अग्रिमेषु मन्त्रेषु कियत् हृद्यं हितकरञ्चोदीरितम्-

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीवर्चसो मम।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि।

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।

ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वामृताः।

अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः।

व्यृपन्तु दुरितं तीक्ष्णश्रृङ्ग्यः।[३१]

मन्त्रानुसारं शैवालेऽपि ओषधयो जायन्ते, यो रोगरूपं दुःखमपाकुर्वन्ति। जले अनेकाः अमृतमया ओषधयः सन्तीत्यपि सूच्यते मन्त्रेण। जले भेषजगुणता तदैव आपद्यते यदा जलमिदं वनस्पतीनां स्पर्शं कुर्वत् प्रवहति। पुराकाले वनानां वनस्पतीनां सघनताकारणेन नदीनां जले औषधगुणा आसन्, अनेकेषामामयानामपाकरणमेभिरद्भिः क्रियते स्म। गङ्गानद्याः जलमनेनैव विशिष्टं महत्त्वमाधत्ते। वर्षामाध्यमेन वृष्टं जलमपि वनस्पतिसम्पर्केण शुद्धं जायते अतः औषधतत्त्वैः समन्वितमिति आयुर्वेदविदां मतम्।

---

[३०] अथर्ववेद ८.७.५

[३१] तदेव ७, ८, ९ तमाः मन्त्राः। अथर्ववेदे ७.३९.१तमे मन्त्रे मेघ ओषधीनां गर्भत्वेनोद्घोषितः - दिव्यं सुपर्णंपयसं बृहन्तमपां वृषभमोषधीनाम्।

पयसा सोम आप्यते।[३२] अर्थात् जलं शमत्वं, सोम्यत्वं, समत्वं प्रददाति। मन्त्रममुमादाय दैनिकव्यवहारदृशा विचारयामः, तद्यथा- तीव्रातपे निदाघे च अशेषा प्रकृतिः जलपानेन, स्नानेन च सुखमनुभवति, जलेनैव जीवनमिति यदुक्तं तत् सत्यमेव। यदा कोऽपि जनः क्रुद्धो भवति तदा यदि स जलं पिबति तेन तस्य क्रोधः न्यूनस्तु जायते इति समेषामनुभवः। एवमेव कामादयो विकाराणामपि वेगः जलसेवनेन काचनमात्रायां तु मन्दो भवत्येव। अनेनातिस्थूलविधिनापि विचार्यमाणे वारिवैशिष्ट्यं विदितं भवति। अपि च छान्दोग्योपनिषदः विश्रुतः श्लोकोऽपि अस्याः जिज्ञासायाः समाधाने सहायकः, तत्र निगदितम्-

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।[३३]

आहारः अर्थात् भोजनम्, किमपि भोजनं जलमन्तरेण सिद्धं न भवति, इत्यत्र नास्ति कापि विचिकित्सा। एवं पावनं पानीयमेव पावनाहाररूपेण परिणमते। कोशानुसारं **सत्त्व**पदं गुण-द्रव्य-प्राण-बल-स्वभाव-चित्त-रस-आयुष्-धन-आत्म-सत्ता-जाति-जन्तुसदृशान् बहून् अर्थान् संकेतयति। तद्यथा- सतो भावः सत्त्वम्, प्रकृतेर्गुणविशेषः। सुखजनकोऽयं गुणः, सत्त्वस्थो जनः प्रसादयुतो, हर्षसंयुतः, प्रीतिपूर्णः, स्मृतिसम्पन्नश्च भवति। कथितञ्च ईश्वरकृष्णेन- **सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्।**[३४] सत्त्वपदस्यार्थो **बलम**पि मतम्। यदि पाचनं सम्यगस्ति तदा स्वच्छेन भोजनेन बलमपि वर्धत एव इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि।

---

[३२]वाजसनेयि संहिता १९.२५४

[३३]छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२

[३४]सांख्यकारिका-

मनः, चित्तम्, आत्मा मेदिनीकोशानुसारं इमे अर्था अपि सत्त्वस्य। अत्र भूयोऽपि तदेव प्रश्नः उदेति मनसि यल्लोके शुद्धं भोजनं भुञ्जानाः बहवः मानवाः सन्ति, तेषां व्यवहारेण आचारेण **चित्तशुद्धिस्तु** परिलक्षिता न भवति। अत्र वक्तुं शक्यते यत् वस्तुतः **आहारः** केवलं खाद्यमेव न, अपितु **आ- समन्तात् ह्रियते- स्वीक्रियते अङ्गीक्रियते** इति आहारः। अनया परिभाषया ज्ञायते- जनेन यत्किञ्चिदपि श्रूयते, पठ्यते, दृश्यते, स्पर्श्यते, चिन्त्यते, गृह्यते, विचार्यते, अङ्गीक्रियते, खाद्यते, आस्वाद्यते, जिघ्रीयते, तत्सर्वम् **आहारः,** इत्थं आहारेण मनश्शुद्धिः तदैव भवितुमर्हति यदा मानवस्य भोजनं बाह्याशुद्धिविरहितं, शुद्धभावनया संवलितं, समर्पणभावयुतं भवेत्। अथ च अस्य दर्शनं चिन्तनं मननमाचरणञ्च सुविचारितं स्यात्। अनेन विधिना जलान्ननिर्मितेन आहारेण क्रमशः अन्तःकरणे अनाविले सति निर्विकारत्वमेति साधकः। अमरकोशे जलस्य चतुस्त्रिंशत् पर्यायवाचिनः उल्लिखिताः, अनेनापि जनजीवने जलस्य व्यापकता महत्ता च सिद्धा भवति। पर्यायरूपेण पठितानि पदानि- अप्-वार-वारि-सलिल-कमल-जल-पयस्-कीलाल-अमृत-जीवन-भुवन-वन-कबन्ध-उदक-नाथ-पुष्कर-सर्वतोमुख-अम्भस्-अर्णस्-तोय-पानीय-नीर-क्षीर-अम्बु-शम्बर-मेघपुष्प-घनरस-कम्-गो-काण्ड-घृत-इरा-कुश-विषेत्येताः।[३५]

एवमनेनाध्ययनेनेदं वक्तुं पार्यते यज्जागतिकानां जनानां, जन्तूनां, वनस्पतीनां, पशूनां, पक्षिणां, पादपानां च कृते जलं साक्षात् जीवनमेव। साक्षात्शुद्धेः निर्विकल्पं साधनम्, व्ययरहिता अथवा स्वल्पव्यययुता असाधारणी चिकित्सा। प्रत्यक्षरूपेण वन्यौषधीमिश्रितेन भेषजरूपेण

---

[३५]अमरकोशः १.१०.३.१.१

अनायासमेव निरामयत्वं सम्पादयति लोके। सूक्ष्मस्तरे कारणतले अपि च अस्य महत्त्वं निर्विवादमेव। भावितेन जलेन कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याहङ्कारादीन् तनूकुर्वता सातत्येन साधनया संयुक्तः साधुः जनः क्रमशः श्रेयांसि समाप्नोति। साधनामाध्यमेन असाध्यमपि साध्यं साधयन् साधकः शरीरेण, मनसा, आत्मना च निर्विकारतापन्नः परिशुद्धः सन् जीवन्मुक्तवद् जीवति। सम्यगुक्तम्-

क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति।[३६]

[३६]योगदर्शनम् ४.३० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः सूत्रे व्यासभाष्यम्।

ध्वनिविज्ञान की वेदमूलकता

डॉ० अभिमन्यु[१]

सृष्टि के आरम्भ में परमपिता परमात्मा ने जहाँ समस्त प्राणियों के कल्याण हेतु विविध-पदार्थों की रचना की वहीं उस सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द स्वरूप-परमेश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए, सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने हेतु, वेद ज्ञान का प्रकाश भी पवित्रतम चार ऋषियों के अन्तःकरण में किया। ऋग्वेद की ऋचा यही उद्घोष करती है कि- **यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।**[२] कि सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य हुए ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं, अर्थात् वेदवाणी को प्रकाश सृष्टि के आदि में पहिले ऋषियों के अन्त:करण में परमात्मा प्रकाशित करता है और जब से वेद प्रकट हुए, तभी से वेदार्थ की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गई थी। भावाभिव्यक्ति के समस्त साधनों में भाषा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। यद्यपि सङ्केत आदि के द्वारा भी भावाभिव्यक्ति होती है किन्तु सन्देह की स्थिति

[१] **एसोसिएट प्रोफ़ेसर संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू वि०वि०, वाराणसी**

[२] ऋ. १०/७१/०३

बनी रहती है। इस भाषा के माध्यम से ही मानव का मानव के मध्य सम्पर्क स्थापित होता है, जिससे सामाजिक सौहार्द्र स्थापित होता है।

बाइबिल में एक स्थान पर लिखा है कि एक बार मनुष्यों ने ऐसी ऊँची मीनार बनाना प्रारम्भ किया, जिसका शिखर स्वर्ग को छूता हो। यवोहा ने देखा कि वे इस कार्य में एक होकर जुटे हैं और उन सबकी भाषा भी एक ही है। तब उसने समझ लिया कि उनके इस सङ्कल्पित उद्योग में कुछ भी असम्भावित नहीं है। अत: उसने तय किया कि इनकी भाषा में गड़बड़ी डाल दे, ताकि वे इस उद्देश्य को पूरा न कर सकें।

तब यवोहा ने उनकी भाषा में गड़बड़ डाल दी। तब वे लोग वैसे ही छितरा गये, जैसे एक दूसरे को पहचानते न हों। इस पर वे सभी अपने उस सङ्गठित कार्य को छोड़कर अलग-२ रास्तों में चलते बने।[३] इस कहानी से यह सन्देश प्राप्त होता है कि भाषा में एकता द्वारा परस्पर संवाद और सौहार्द्र तथा बड़े-२ कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। भाषा का आधार ध्वनि है अर्थात् ध्वनियों से ही भाषा का निर्माण हुआ है। ध्वनियों का सम्बन्ध उच्चारण से है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों की अपनी कुछ न कुछ विशेषताएँ होती है। अतः किसी भाषा के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान तभी हो सकता है जब उस भाषा में प्राप्त होने वाली ध्वनियों की उच्चारण प्रक्रिया तथा अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सम्यक् अनुशीलन किया जाए।

---

[३] (१) they said, go to, let us build a city and tower, whose top may reach unto heaven. (११.४) And the **lord** said, Behold, the people is one, and they love all one language, and this they begin to do : and now nothing will be restrained from them, which they have imagined to do (११.६)... (**Holy** Bible, Genesis ११.८) उद्धृत दर्शनशास्त्र की परम्परा भौतिक विज्ञान- (पृ.१२५-१२६)

भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार के ज्ञान को 'ध्वनि विज्ञान' कहते हैं। प्रकृत-स्थल पर इस ध्वनि विज्ञान की वेदमूलकता को प्रकाशित किया गया है।

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही वर्णात्मक ध्वनियों की उत्पत्ति की चर्चा प्राप्त होती है। सृष्टि में मानव की उत्पत्ति के साथ अग्नि= प्रकाश के पश्चात् इस ध्वनि-तत्व ने ही सर्वाधिक प्रभावित किया है। बृहदारण्यकोपनिषद्[४] में एक स्थान पर राजा जनक महर्षि याज्ञवलक्य से पूछते हैं कि मनुष्य अपने कार्यकलाप के लिए किस ज्योति को रखता है? तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि- आदित्य=सूर्य की ज्योति के सहारे मनुष्य अपने कार्यकलापों का सम्पादन करता है। किन्तु राजा जनक पुनः प्रश्न करते हैं कि- अमावस्या में चन्द्रमा के उदित न होने पर, घनी अन्धेरी रात में, अग्नि या कोई ज्योति के पास में न रहने पर कैसे अपने व्यवहार को सम्पादित करता है? तब महर्षि कहते हैं- वागेवास्य ज्योतिर्भवति, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते। कर्म कुरुते, विपर्येति। अर्थात् अग्नि की अनुपस्थिति में वाक्= वाणी= ध्वनि ही सबसे बड़ी ज्योति है, जिसके सहारे मनुष्य अपने कार्य-व्यवहार करता है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में अचेतन बादल और चेतन मेंढक की ध्वनि = वाणी का वर्णन प्राप्त होता है।[५] महर्षि पाणिनि- '**पाणिन्धमा पन्थानः**[६]' का प्रयोग करतें हैं। महर्षि यास्क निरुक्त में अनेकत्र भाषा में

---

[४] किं ज्योतिरयं पुरुषः? आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच। आदित्येनैवायं ज्योतिऽषास्ते पल्ययते, कर्म कुरुते, विपर्येति। ... वागेवास्य ज्योतिर्भवति वाचैवायं ज्योतिऽऽषास्ते...। (बृहदा.३.३.४.३.२-५)

[५] वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषु। (ऋ.७.१०३.२) मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्क्न्पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम् (ऋ.७.१०३.४)

[६] काशिका, ३.२.३७

ध्वनि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं-

(१) **काक इति शब्दानुकृतिः, तदिदं शकुनिषु बहुलम्।**[७]

(२) **दुन्दुभिः इति शब्दानुकरणम्।**[८]

(३) **नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः।**[९]

कि नदी के गरजने के आवाज के कारण ही नदी पड़ा है। आज भी लोक में इन पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ शकुन-अपशकुन तथा अन्य विशिष्ट कार्यों की सूचक है- कोयल की कूक- वसन्त के आगमन का द्योतक है और मुर्गे की आवाज़ प्रातःकाल की सूचना देने वाली है। महर्षि पाणिनि मुर्गे की आवाज के अनुकरण पर- ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का विधान करते हैं- **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः।**[१०] कालिदास मेघदूत में- **वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।**[११] ऋग्वेद के एक मन्त्र में मङ्गलकरी शकुन्तों के घर आगमन की कामना की गई है- **अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवाही शकुन्ते।**[१२] इस पर सायण कहते हैं- **शकुन्ते हे कपिञ्जल त्वं सुमङ्गलो भद्रवाही च सन् गृहाणां दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि अवक्रन्द शब्दं कुरु। दक्षिणतः शब्दायमानाः शकुन्तो मङ्गलसूचको हि।**[१३] आचार्य पाणिनि ने जहाँ **व्यक्तवाचां समुच्चारणे**[१४]

---

[७] निरुक्त. ३.१८

[८] वही, ९.१२

[९] वही, २.२४

[१०] अष्टा.१.२.२७

[११] पूर्वमेघ, ९

[१२] ऋ. २.४२.३

[१३] ऋ. २.४२.३ पर सायणभाष्य

[१४] अ.१.३.४८

के द्वारा जहाँ मनुष्यों की व्यक्तवाणी का वर्णन करते हैं[१५], वहीं **अनुकरणं चानितिपरम्**[१६] के द्वारा **खाट्कृत्य, खाट्कृतम्, यत्खाट्करोति, अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्**[१७] के द्वारा- **यत्र ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरुपेण न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तः। तस्य अनुकरणमव्यक्तानुकरणम्। पटपटाकरोति, पटपटाभवति, पटपटास्यात्, दमदमाकरोति, दमदमाभवति, दमदमास्यात्, खरटखरटाकरोति**[१८] आदि अनेकों प्रयोग अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण का भी वर्णन करते हैं।

भाषा के अध्ययन में बालकों की भाषा भी उपयोगी है, जिसका उल्लेख ऐतरेयारण्यक[१९] और ऐतरेय ब्राह्मण[२०] में प्राप्त होता है- कि पहले बालक रोने के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं करता, मूक बना रहता है। यद्यपि उसमें मध्यमा वाक् अर्थात् चिन्तन अवश्य ही बना रहता होगा। क्रमशः उसे अन्तिम वाणी वैखरी प्राप्त होती है, उसमें भी वह एक दो अक्षर वाले शब्द ही बोलता है- माँ, बा आदि।

हेलाराज ने वाक्यपदीय (२.१५२) की व्याख्या में इस विषय को स्पष्ट किया है, कि भाषा का प्रारम्भिक रूप क्या होता है। उनका कहना है कि- प्रलयावस्था में सभी शब्दशक्ति के बीज निरुद्ध या अव्यक्त रूप को प्राप्त हो जाते हैं नवीन सृष्टि के साथ वे अव्यक्त रूप में विद्यमान

---

[१५] व्यक्तवाचः इति हि मनुष्याः प्रसिद्धाः (का.)

[१६] अष्टा.१.४.६२

[१७] अष्टा. ५/४/५७

[१८] का.५/४/५७

[१९] एतां वाचं प्रजापति: प्रथमां वाचं व्याहरदेकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति, तथैवेतत् कुमार: प्रथमवादी वाचं व्याहरत्येकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति। ऐ.आ. १.३.३ और १.३.७

[२०] सारस्वतं शंसति, तस्मात् कुमारं जातं जघन्या वागाविशति ऐ.ब्रा.१२.३

शब्दशक्ति के बीज पुनः अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विकसित होते हैं और धीरे-२ पनपते हुए व्यक्त भाषा के रूप में प्रकट होते हैं।[२१] आचार्य भर्तृहरि समस्त लोकिक व्यवहार का आधार शब्द को बताते हुए 'पूर्वाहित संस्कार[२२]' अर्थात् पूर्व जन्म के संस्कारों को भाषा की उत्पत्ति का कारण माना है। ये संस्कार कभी नष्ट नही होते हैं और ये ही बालक में शब्द भावना को उत्पन्न करते हैं।

ऋग्वेद का दशवाँ मण्डल इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। एक मन्त्र में कहा है-

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत् नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥[२३]

- हे विद्वन्! सृष्टि के आदि में समस्त वाणियों की मूलरूप (सृष्टिगत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान लोग) उच्चारण करते हैं, जो इन सबसे श्रेष्ठ और दोष शून्य होती है, वह वाणी (ऋषियों की) गुहा (बुद्धि) में धारण की हुई (ईश्वर की) प्रेरणा से प्रकाशित होती हैं। पदवाक्यप्रमाणज्ञ पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु[२४] जी इस मन्त्र के आधार पर ईश्वरीय ज्ञान की ७ विशेषताओं का उल्लेख करते हैं-

१. वेद सृष्टि के आदि में होने वाली वाणी है, इसलिए मन्त्र में

---

[२१] एवं प्रतिभा बहुविधाऽपि ...प्रत्यस्तमि निविष्टशब्दशक्तिबीजकारणान्तर्भूता निबद्धवीजा वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि विवर्तमानमनुभूय क्रमेण वर्ण-वाक्य नियताभिरवस्थाभिः सम्मूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुन: पुनर्व्यक्ते रुपेण प्रत्यवभासते। वाक्य. २/१५२, हेलाराज

[२२] इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया। यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥ वाक्य.१.१२१

[२३] ऋ.१०/७१/१

[२४] यजुर्वेदभाष्य विवरण

'प्रथमम्' कहा।

२. इस समय संसार में जितनी मानववाणियाँ हैं, उन सबका आदि स्रोत अर्थात् मूल है। वेद वाणी से सब भाषाएँ निकली है। वेदवाणी का भी मूल ओ३म् (परमेश्वर) है, इसलिए 'वाचो अग्रम' कहा।

३. जो सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम धारण करती हो। आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम रखने की आवश्यकता होती है, तब यह वाणी सहायक होती है। इस से ही सृष्टि के पदार्थों की संज्ञा तथा शब्दार्थ का निर्धारण होता है, इसलिए 'नामधेयं दधानाः' कहा है।

४. जो सर्वश्रेष्ठ, बड़ी विस्तृत और विशाल हो, केवल मानव बुद्धि में आने वाले व्याकरण के सञ्कुचित नियमों में बंधी हुई न हो, उससे कहीं परे, दिव्यरूप (जिसका प्रवाह नैसर्गिक हो) में उपस्थित हो, इसलिए 'श्रेष्ठम्' कहा।

५. जो दोष रहित हो, सब संसार के लिए एक सी, किसी देशविशेष की भाषा न हो, 'अरिप्रम्' कहा।

६. जो गुहा (बुद्धि) में निहित हो, अतः 'निहितं गुहा' कहा।

७. जो अनेक जन्म जन्मान्तरों में परमात्मा से प्रेम करते हैं, उनके द्वारा भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती हैं, उनकी बनाई नहीं, इसलिए 'प्रेरणा आविः' कहा।

ऋग्वेद के ही १० वें मण्डल के ९८ वें सूक्त में वाक् = ध्वनि का अधिष्ठान मुख है- **...दधामि ते द्युमति वाचमासन्।**[२५] तथा **अस्मे धेहि द्युमति वाचमासन्**[२६] सायण ने यहाँ आस्ये का अर्थ आसन् ही किया है-

---

[२५] ऋ. १०/९८/२

[२६] ऋ. १०/९८/०३

ते तुभ्यं त्वदर्थं द्युमतीं दिप्तियुक्तां वाचं स्तुतिरूपां दधामि आसन्-आस्येऽस्मदीये।[२७]

एक अन्य मन्त्र में उच्चारण की विधि बताते हुए कहा है कि- जिस प्रकार सत्तू को छलनी से छानकर प्रयोग करना हितकर होता है, उसी प्रकार वाणी को मन से विचार कर प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार की वाणी बोलने वाले से लोग मैत्रीभाव रखते है, क्योंकि उनकी वाणी में भद्रता होती है।[२८] एक अन्य मन्त्र में वाणी के चतुर्धा विभाजन का उल्लेख मिलता है, जिसे भाष्यकार और परवर्ती वैयाकरण बहुधा उल्लेख करते हैं। इनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है और चतुर्थ अवयव बैखरी रूप को मनुष्य बोलते है।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ध्वनि-उत्पत्ति प्रक्रिया का स्पष्टत: सङ्केत प्राप्त होता है- जिसमें वाक् को कर्म बना कर 'वाचम्' पद के साथ 'इयर्ति[२९]' और 'उदियर्ति[३०]' का प्रयोग है- जिसका अर्थ वाणी को प्रेरित करना या 'ऊपर की ओर प्रेरित करना' है। ध्वनि उत्पत्ति प्रक्रिया के अन्तर्गत वक्ता बोलने की इच्छा से बुद्धि से अर्थों की सङ्गति करके युक्त करता है, मन जठराग्नि पर आघात करता है, जठराग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है और वायु उर: स्थान में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न

---

[२७] ऋ. १०/९८/०३ पर सायाणभाष्य

[२८] सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।... ऋ.१०/७१/२

[२९] (क) कानिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाणं इयर्ति वाचमिरितेव नावम् - ऋ. २/४२/१

(ख) इयर्ति वाचं जनयन्यजध्यै। ऋ.

(ग) इयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः ऋ. ५/३६/४

[३०] (क) स्युमना वाच उदियर्ति वह्निः ऋ. २/११३/१७

(ख) विप्र उदियर्ति वाचम् ऋ. ४/८/५

करता है।[३१] शिक्षा ग्रन्थों में विकसित ध्वनि उत्पत्ति की इस प्रक्रिया का मूल ऋग्वेद के पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णित इयर्ति और उदियर्ति पद ही है।

इस प्रकार ध्वनि-विज्ञान का मूल हम वेदों में स्पष्टतया देख सकते है। जिनका पल्लवन परवर्ती वैदिक ग्रन्थों और विशेष रुप से प्रातिशाख्य और शिक्षा ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

[३१] आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनस्तु... ॥ पाणिनिशिक्षा

ऋग्वेद में सृष्ट्युत्पत्तिविज्ञान और सृष्टि का प्रथमतत्त्व

डॉ० विनोद कुमार[१]

वेद ज्ञानस्वरूपात्मक हैं अर्थात् वेद पुस्तकरूप नहीं अपितु ज्ञान राशि का नाम वेद है। अतः वेदों में विज्ञान यह कथन ही वेदज्ञान को विज्ञान के रूप में देखने व परिणत करने की नवीन दृष्टि विकसित करता है। कहने का आशय यह है कि वेदों में ज्ञान, यह सिद्ध धर्म है जबकि विज्ञान साध्य है अर्थात् वेदों में ज्ञान विद्यमान है और उसे विज्ञान बनाना या विज्ञानरूप में परिणत करना विद्वत्समुदाय का दायित्व है। यतः विज्ञान सर्वदा ज्ञान-सापेक्ष होता है अतः विज्ञान भी ज्ञान की अन्तिम परिणति नहीं है। आज जो ज्ञान है वह कल विज्ञान बन जाएगा और कल का वही विज्ञान भविष्य में ज्ञान मात्र रह जाएगा; जबकि विज्ञान के रूप में किसी अन्य तथ्य की स्थापना कर दी जाएगी।

उदाहरणार्थ गन्ने को किसी व्यक्ति ने पहली बार देखा, देखने में लाठी के समान लगने के कारण उस लाठी-ज्ञान का उपयोग पशुओं को

[१] **सहाचार्य, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

नियन्त्रित करने के लिए कर लिया हो। लेकिन किसी दिन उसकी मिठास का ज्ञान होने पर उसे चूसना आरम्भ कर दिया तो लाठीज्ञान की अपेक्षा गन्ने को चूसना विज्ञान बन गया। कालान्तर में उससे रस निकालकर गुड़, शक्कर, चीनी, मदिरा आदि बनने लगे तो यह विज्ञान हो गया जबकि प्राक्तन ज्ञान, ज्ञान (साधारण) बन गया।

सृष्टि के आदि में ईश्वर से ऋषि-मुनियों को मन्त्ररूप में प्राप्त वेदज्ञान विज्ञान नहीं अपितु परमविज्ञान है। इस परमविज्ञान को आधुनिक विज्ञान की परिभाषा द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। क्योंकि आधुनिक विज्ञान केवल दृश्य पदार्थों को ही अपना विषय बनाता है तथा स्वनिर्मित वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा सिद्ध होने पर ही किसी तथ्य, सिद्धान्त, प्रयोग या परिकल्पना को विज्ञानसम्मत अथवा विज्ञानान्तर्गत रखता है। वस्तुतः आधुनिक विज्ञान ज्ञानभण्डार की अपेक्षा वैज्ञानिक विधि को विज्ञान की वास्तविक कसौटी मानता है। परन्तु वैज्ञानिक परीक्षा भी सत्य की चरम व सुव्यवस्थित कसौटी नहीं है। आधुनिक विज्ञान स्वयं असिद्ध है। प्रति-अनुसन्धान उसके मतवाद यहाँ तक कि परीक्षालब्ध फल भी बदलते रहते हैं और कभी विपरीत भी हो जाते हैं। डार्विन का सिद्धान्त आदि अनेक उदाहरण इसके प्रमाण हैं।

वेदों के सन्दर्भ में विज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति द्विविध हो सकती है - १. **विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्** तथा २. **विविधं ज्ञानं विज्ञानम्**। प्रथम व्युत्पत्त्यर्थ वेदों में भौतिक या पदार्थविज्ञान की गवेषणा करता है जबकि द्वितीय व्युत्पत्त्यर्थ वेदों में आधिदैविक, आध्यात्मिक ज्ञान के विविध रूपों व ऋषि-चिन्तन के अनुसन्धान का पक्षधर है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेद के एक ही मन्त्र में विशिष्ट एवं विविध दोनों प्रकार का ज्ञान निहित है। यह अनुसन्धाता के ऊपर निर्भर है कि वह उस ज्ञान को किस

प्रकार विज्ञान के रूप में परिणत करता है। चूँकि ज्ञान सदा विज्ञान की अपेक्षा रखता है अतः वैदिक विद्वानों द्वारा वेदों के ज्ञान को युगानुकूल चिन्तन व प्रयोग द्वारा विज्ञानरूप में प्रस्तुत कर समाजोपयोगी बनाना एक महत्त्वपूर्ण व श्रमकालसाध्य कार्य है।

आधुनिक युग के भारतीय चिन्तकों- स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, पं० मधुसूदन ओझा, पं० मोतीलाल शास्त्री, पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार (स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती) जैसे विद्वानों ने वेदमन्त्रों के केवल कर्मकाण्डपरक ही अर्थ न करके यथास्थान प्रसङ्गोपात्त आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक अर्थ करते हुए वैदिक ज्ञान को विज्ञान रूप में प्रस्तुत कर समाजोपयोगी बनाने का महनीय कार्य किया है।

वैदिकमन्त्रों में ऋषियों का सृष्ट्युत्पत्ति-विज्ञान-विषयक चिन्तन अनेकविध दिखाई देता है। कई जगह तो यह अत्यन्त स्पष्ट है किन्तु अनेक स्थलों पर यह इतना प्रतीकात्मक, रहस्यात्मक एवं आलङ्कारिक हो गया है कि उसको साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिए समझना अत्यन्त कठिन है। उसको समझने के लिए ऋषिबुद्धि होनी चाहिए। वैदिक संहिताओं में कतिपय ऐसे विशिष्ट सूक्त भी हैं जिनमें सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक चिन्तन को सुनियोजित एवं व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत किया गया है। इनमें ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त हैं - देवसूक्त (१०.७२) विश्वकर्मा सूक्त (१०. ८१-८२) पुरुषसूक्त (१०.९०) हिरण्यगर्भसूक्त (१०.१२१) वाक्सूक्त (१०.१२५) नासदीयसूक्त (१०.१२९) अस्यवामीय सूक्त (१.१६४) सृष्टिसूक्त (१०.१९०)।

ऋग्वेद के देवसूक्त में सर्वप्रथम देवों की उत्पत्ति या जन्म ब्रह्मणस्पति से माना है। ब्रह्मणस्पति ने इन देवों को लौहकार के समान

उत्पन्न किया '**ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्**'[२]। जैसे लौहकार अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए अपनी धौंकनी को कार्यरत करता है ; और धौंकनी के कार्यरत होते ही अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। उसकी चिन्गारियाँ बाहर फैलने लगती हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मणस्पति के द्वारा ये सभी देव फैल गये। यहाँ असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है कि सत् की उत्पत्ति के साथ दिशाएँ उत्पन्न हुई और दिशाओं के बाद विश्ववृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसे उत्तानपाद (जिसका मूल ऊपर है) कहा गया है। उत्तानपाद से भू उत्पन्न हुई फिर भू से दिशाएँ उत्पन्न हुईं। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ तथा दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई-

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वादितिः परि॥[३]

दक्षपुत्री अदिति ने जिनको उत्पन्न किया, वे देव कहलाए। अदिति से उत्पन्न होने के बाद में देव सलिल में एक दूसरे से अच्छी प्रकार से जुड़े हुए स्थित हुए। वस्तुतः यहाँ सलिल सामान्य जल नहीं अपितु आपः है जोकि दिव्यजलों का वह सूक्ष्मतम रूप है जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। इसी सलिल में स्थित देवों के नर्त्तन से एक अत्यन्त तीव्र रेणु अलग हो गया। सलिल में सुसंरब्ध देवों के नर्त्तन से जो अत्यन्त तीव्र रेणु अलग हुआ वह सूर्य कहलाया[४]। देव सूक्त में ही अदिति के पुत्र के रूप में देवों का उत्पन्न होना वर्णित है जिनकी संख्या ८ बताई गयी है किन्तु यहाँ उनका नामोल्लेख नहीं है। अध्वर्यु ब्राह्मण में आठ पुत्रों का नामोल्लेख इस प्रकार है - मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् तथा

---

[२] ऋग्वेद , मं.१०, सू.७२, मं.२

[३] वही, मं. १०, सू. ७२, मं.४

[४] वही मं.१०, सू. ७२, मं. ६-७

आदित्य। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि अदिति ने जिन आठ पुत्रों को जन्म दिया उनमें से सात पुत्रों के साथ वह देवों के पास गई और आठवें पुत्र मार्त्ताण्ड को ऊपर आकाश में छोड़ दिया[५]। यही बात देवसूक्त में सात पुत्रों सहित पूर्व्य युग की स्थिति को प्राप्त होने और आठवें एक पुत्र मार्त्ताण्ड की उत्पत्ति और मृत्यु के लिए आकाश में छोड़ने के रूप में उल्लिखित है -

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवा उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्॥[६]

हिरण्यगर्भ सूक्त में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति बतलाई गई है जो कि सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं, प्रजापति हैं। वास्तव में तो यहाँ हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति न कहकर उसकी विद्यमानता बतलाई गई है कि वे पहले से विद्यमान थे-

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[७]

यहाँ सम्पूर्ण विश्व को गर्भ में धारण करने वाले सर्वत्र व्याप्त 'बृहती आपः' का उल्लेख है। उससे देवताओं का प्राणभूत एक प्रजापति उत्पन्न हुआ।[८] उसने उत्पन्न होते ही अपनी महिमा से जलों को देखा जिनमें सृष्टि को उत्पन्न करने की योग्यता थी, जिनमें यज्ञ को उत्पन्न करने की शक्ति

---

[५] तै. सं. ६.५.६

[६] ऋग्वेद मं. १०, सू.७२, मं.८-९

[७] वही, मं. १०, सू. १२१, मं. १

[८] वही, मं. १०, सू. १२१, मं. ७

थी, द्युलोक को उत्पन्न किया। यहाँ बृहती आपः के गर्भ से हिरण्य-प्रजापति तथा प्रजापति से बृहती आपः के उत्पन्न होने का उल्लेख है।

नासदीय सूक्त के आरम्भिक वर्णन से सृष्टि की प्रलयावस्था का सङ्केत मिलता है कि उस समय न असत् था नही सत्, न रजस्, न परम व्योम, न कोई आवरण था न आवरण का स्थान। न आवृत था न कोई आवरणकर्त्ता था। अत्यन्त गम्भीर और गहन अम्भस् भी नहीं था। न मृत्यु थी न अमृतत्त्व। रात्रि और दिन का भेदक कोई चिह्न भी नहीं था। इस निषेधात्मक वर्णन के उपरान्त ऋषि एक तत्त्व की सत्तात्मक स्थिति स्वीकार कर रहे हैं '**आनीदवातं स्वधया तदेकम्...।**'[९] जब सब जगह सलिल व्याप्त था तब एक तत्त्व था जो बिना वायु के अपनी स्वधा से श्वास ले रहा था। पं. मधुसूदन ओझा के मतानुसार यहाँ उसे आभु शब्द से अभिहित किया गया है जोकि ब्रह्म है। यद्यपि सृष्टि की आरम्भिक अवस्था में सर्वत्र अप्रकेत सलिल व्याप्त था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म की तुलना में अत्यन्त लघु या तुच्छ होने पर भी आभु अर्थात् ब्रह्म को आच्छादित किए हुए था- **तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्**[१०]। इस आभु से ही सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ, जो मन का प्रथम रेतस् था '**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**'[११]।

सृष्टि सूक्त में सृष्टि को एक यज्ञ माना गया है तथा यह सृष्टिरूप यज्ञ देवकर्मों द्वारा सम्पादित हो रहा है-

---

[९] वही, मं १०, सू.१२९, मं.२

[१०] वही, मं १०, सू.१२९, मं.३

[११] वही, मं १०, सू.१२९, मं.४

यो यज्ञो विश्वतश्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥[१२]

यहाँ देवताओं के द्वारा जिस देव के यजन का उल्लेख किया गया है वह प्रजापति देव है और प्रजापति कोई अन्य नहीं विश्व ही प्रजापति है। ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र प्रजापति का तादात्म्य विश्व के साथ किया गया। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का ही रूप है उससे पृथक् नहीं। ऋग्वेद की ऋचा कहती है- **प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव**[१३]। सृष्टि सूक्त के मन्त्रों में अग्नि, सविता, सोम, सूर्य, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र, विश्वे देवा इन देवतत्वों से सृष्टि की रचना मानी है साथ ही उनका सम्बन्ध छन्दों के साथ जोड़ा गया है[१४]। उल्लेख्य है कि छन्द यहाँ काव्य के छन्दमात्र नहीं अपितु सृष्टिप्रक्रिया के सम्पादन में सहायक तत्त्व हैं, जिनको पारिभाषिक नाम दिया गया है।

अघमर्षण सूक्त में अभीद्धतपस् से ऋत और सत्य की उत्पत्ति मानी गई है- **'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'**[१५]। सत्य वह तत्त्व है, जिससे भूमि धारण की जाती है और ऋत वह तत्त्व है जिससे आदित्य स्थित हो रहे हैं[१६]। ऋत और सत्य के पश्चात् रात्रि उत्पन्न हुई है। यहाँ रात्रि का अभिप्राय दिन-रात के युग्म में जिस रात्रि का उल्लेख होता है, वह नहीं क्योंकि उन दोनों अहोरात्र की उत्पत्ति भिन्न मन्त्र में बताई गयी है। अतः यह रात्रि नासदीय सूक्त में वर्णित तमस् से आच्छादित तमस् की

---

[१२] वही, मं १०, सू.१३०, मं.१

[१३] वही, मं १०, सू.१२१, मं.९

[१४] वही, मं १०, सू.१३०, मं.३-६

[१५] वही, मं.१०, सू. १९०, मं.१

[१६] वही, मं.१०, सू.८५, मं.१

सत्ता हो सकती है। क्योंकि इस रात्रि से अर्णव समुद्र उत्पन्न हुआ है जो कि अप्रकेत सलिल हो सकता है।

पुरुषसूक्त में विस्तारपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यहाँ सृष्टि का आदि तत्त्व पुरुष है जो चतुष्पाद् है। पुरुष का त्रिपाद्रूप अर्थात् तीन चौथाई भाग अमृत दिव्यलोक में है और जो कुछ ब्रह्माण्ड है यह सब उसका एकपाद् अर्थात् एक चतुर्थांश है। पुरुष के इसी चतुर्थांश से खाने वाले तथा न खाने वाले (**अनशानशने**) अर्थात् जड़-चेतन सब व्याप्त है अर्थात् उसी से उत्पन्न है। उस पुरुष के चतुर्थांश से विराज् उत्पन्न हुआ। इस विराट् रूप अवस्था से जो पुरुष उत्पन्न हुआ वह जीव पुरुष था। उसने उत्पन्न होते ही अपने को अलग कर लिया। तत्पश्चात् इस भूमि के अनुसार जीवात्माओं के (पुरः) शरीरों का निर्माण हुआ।[१७]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में सृष्ट्युत्पत्ति-विषयक विज्ञान प्रस्तुत किया गया है। सूक्ष्म विवेचना करने पर प्रायः सभी सूक्तों में हमें एक साम्य अवश्य दृष्टिगत होता है कि सृष्ट्युत्पत्ति के समय अथवा उससे पूर्व जल किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है जो कि जीवन के लिए अपरिहार्य तत्त्व है। साथ ही ऋषियों ने सृष्ट्युत्पत्ति करने वाले एक परमतत्त्व की भी सत्ता स्वीकार की है भले ही उसे सूक्तों में ब्रह्मणस्पति, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, आभु, अभीद्धतपस्, विराट् आदि पृथक्-पृथक् नाम दिए हों।

---

[१७] वही, मं.१०, सू. ९०, मं.३

वेदों में वैज्ञानिक-सिद्धान्तों की कुञ्जी-समकक्षवाद

डॉ० जगमोहन[१]

पूज्य स्वामी समर्पणानन्द जी के विषय में रिसर्च स्कॉलर पण्डित भगवद्दत्त जी की यह उक्ति कि **धरती तल पर वेद विषय में पण्डित बुद्धदेव जी (समर्पणानन्द) जैसी सूझ किसी की नहीं है।**

यह उनके पाण्डित्य को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि उन्होंने किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया है। पुनरपि उनके उपलब्ध वेद-भाष्य यजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता के आरम्भिक प्रथम एवं द्वितीय अध्याय, अथर्ववेद के प्रथम काण्ड का बारहवें सूक्त पर्यन्त तथा चौहदवें काण्ड का भाष्य, शतपथ ब्राह्मण के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय काण्ड के द्वितीय ब्राह्मण पर्यन्त भाष्य एवं उनके द्वारा लिखित सोम, मरुत्, स्वर्ग, सप्तसिन्धु, प्रातःसूक्त आदि लघुपुस्तिकाओं, कायाकल्प एवं ऋग्वेदमण्डलमणिसूत्र नामक प्रौढ़ ग्रन्थों तथा समय समय पर लिखित निबन्धों के माध्यम से उनकी वेदार्थ दृष्टि को समुचित रूप से समझा जा सकता है।

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली**

वेद को समझने के लिए जिस आर्ष-बुद्धि या आर्ष परम्परा की चिन्तन विधा से युक्त होना आवश्यक है, उसका निदर्शन हमें स्वामी जी के लेख **"वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो"**[२] में उपलब्ध होता है। इस निबन्ध में स्वामी जी ने वेदार्थ को जानने में तीन वादों को बाधक एवं तीन वादों को वेदार्थ का प्रकाशक सिद्ध किया है।

यौगिकवाद, समकक्षवाद तथा विज्ञानवाद ये वेदार्थ में सहायक हैं, जिसका विस्तृत विवेचन तो उनके उपर्युक्त लेख में ही जिज्ञासु को देखना चाहिए। प्रस्तुत लेख में समकक्षवाद का ही विवेचन किया जा रहा है। जो वेदों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अन्वेषण की कुञ्जी है।

समकक्षवाद हमारे जीवन का अभिन्न अङ्ग है, जिसका उपयोग हम लोग जीवन में अनेक बार करते हैं। पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी ने अत्यन्त सरल शब्दों में समकक्षवाद को समझाया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में बहुत सी बातें प्रचलित होती हैं, जिनका उक्त प्रसङ्ग से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता है किन्तु व्यवहार में इतना प्रचलित होता है कि व्याकरण शास्त्र ज्ञानशून्य व्यक्ति भी सरलता से हृदयङ्गम कर लेता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है कि अरे भाई! चलो, विलम्ब मत करो, तब उसका मित्र कहता है कि- हाँ, चलता हूँ, थोड़ा पेट्रोल तो पेट में डाल लूँ, अन्यथा गाड़ी कैसे चलेगी। सुनने वाला कहता है कि अच्छा शीघ्र करो। दोनों ही पेट्रोल का अर्थ जो उस समय होता है उसको अनायास ही समझ जाते हैं कि यहाँ पेट्रोल का अर्थ गाड़ी में चलने वाला पेट्रोल नहीं, अपितु मनुष्य का शक्तिदायक वह पदार्थ है, जिसके सेवन करने से निर्बाध रूप से वह अपनी यात्रा पूरी करेगा अर्थात पेट्रोल का अर्थ यहाँ रोटी, दाल, चावल, खीर, दूध, दही आदि पदार्थ हैं, जो

[२]प्रकाशक: स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, मेरठ

उसको शक्ति दे रहे हैं, सभी पेट्रोल शब्द के वाच्य हो जाएँगे। यही समकक्षवाद है।[३]

वेद के शब्दों का अर्थ लौकिक शब्दों की तरह रूढ़ नहीं है, अपितु कहीं अधिक व्यापक है। प्रत्येक शब्द अपने अन्दर एक विशिष्ट एवं व्यापक अर्थ शक्ति को लिए हुए है। अतएव वह शब्द प्रसङ्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रकाशक हो सकता है, अथवा जहाँ-जहाँ उसके समकक्ष विशेषता विद्यमान हैं वह उसका भी अभिमान कर सकता है। जैसा कि पेट्रोल शब्द की प्रवृत्ति शक्तिदायक पदार्थ के रूप में हैं। अतः जो भी शक्तिदायक पदार्थ है, उसे पेट्रोल कहा जा सकता है।

वेद-भाष्यकारों के द्वारा एक ही शब्द के जो भिन्न-भिन्न अर्थ किए गए हैं, उसके मूल में यह समकक्षवाद ही है, जो यौगिकवाद का ही अग्रिम चरण है, जिसका निदर्शनमात्र निम्नलिखित है।

पुत्र लोक में प्रचलित अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है। पुत्र शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं कि **पुत्रः पुरु त्रायते** अर्थात् (जो अन्यों की अपेक्षा) पुरु अधिक रक्षा करता है।

निपरणाद् वा अर्थात् निश्चित रूप से माता-पिता का पालन-पोषण करने वाला, उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला **पुन्नरकं ततस्त्रायते इति वा** अर्थात् जो माता-पिता की पुत् = नरक दुःखादि से रक्षा करता है।[४]

इस निर्वचन के आधार पर पुत्र की तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

१. रक्षा करने वाला

२. पालन करने वाला

३. पूर्ण करने वाला

---

[३]वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो क्या भूलो? निबन्ध की भूमिका, पृष्ठ ३-४

[४]निरुक्त २.११

अतः जिन पदार्थों में इनमें से कोई भी विशेषता विद्यमान होगी तो उसे वेद में पुत्र शब्द के द्वारा कहा जा सकता है। इस समकक्षवाद के आधार पर एक ही मन्त्र के विभिन्न विज्ञान-परक अर्थ किए जा सकते है। यथा -

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वो सहस्पुत्रः देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥[५]

ऋग्वेद के इस मन्त्र का याज्ञिक अर्थ करते हुए सायण कहते हैं कि हे अग्निदेव! आप बल के पुत्र हैं, अर्थात् बल के पोषक हैं, क्योंकि आप घर्षण के द्वारा पुष्ट होते हैं।[६] यहाँ पुत्र शब्द का अर्थ सायण ने 'पोषित करने वाला' किया है।

स्वामी दयानन्द इस मन्त्र का अर्थ 'राजा के कर्तव्यपरक' करते हैं।

पुत्र का अर्थ पालक करते हैं।[७] अर्थात् - हे राजा आप बल के पालक है।

तमिडत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतं ऋञ्जसानम्।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्॥[८]

इस मन्त्र में भी सायण याज्ञिक अर्थ करते हुए पुत्र का अर्थ 'पोषण करने वाला' यही करते है।[९] क्योंकि जब अग्नि में अन्न आदि की आहुति प्रदान की जाती है तो वह अग्नि को पुष्ट करती है। अग्नि का पोषण करने के कारण यहां पर अग्नि को अन्न का पुत्र कहा गया है।

---

[५] ऋग्वेद ५.३.१

[६] हे सहस्पुत्र बलेन मथ्यमानत्वात्

[७] बलस्य पालक

[८] ऋग्वेद १.९६.३

[९] ऊर्जः पुत्रम्, अन्नस्य पुत्रम्

स्वामी दयानन्द इस मन्त्र का अर्थ ईश्वरपरक करते हुए पुत्र का अर्थ प्राण करते हैं।[१०] जो वायु रूप कारण से सिद्ध या पुष्ट होता है, वह प्राण है।

हस्त शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं कि- **हस्तो हन्तेः, प्राशु हनने** अर्थात् हस्त शब्द हन धातु से बनता है क्योंकि वह मारने एवं गति करने में शीघ्र व्याप्त होने वाला है।[११]

यो हसति सः हस्तः अर्थात् जो हर्षित रहता है, प्रसन्न रहता है, वह भी हस्त है, इस प्रकार भी हस्त का निर्वचन किया जा सकता है। निर्वचन के आधार पर हस्त शब्द की दो विशेषताएँ प्राप्त होती हैं-

१. मारने वाला एवं गति करने वाला

२. प्रसन्न रहने वाला

क्व१स्य ते रुद्र मृडयाकुःहस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥[१२]

इस मन्त्र में सायण रूद्रदेव परक अर्थ करते हुए हस्त का प्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण करते हैं। वह आपका सुख प्रदान करने वाला हाथ कहाँ है?[१३]

स्वामी दयानन्द इस मन्त्र का चिकित्सापरक विशेष अर्थ करते हुए हस्त शब्द का अर्थ हर्षित करते हैं। वे कहते हैं कि वैद्य को हसमुख होना चाहिए।

शिशु शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि-

---

[१०] ऊर्जः वायुरूपात् कारणात् पुत्रम् प्रसिद्धम् प्राणम्

[११] निरुक्त १.७

[१२] ऋग्वेद २.३३.७

[१३] सः हस्तः कुत्र वर्तते।

शिशुः शंसनीयो भवति अर्थात् शंसनीय लालनीय होने से शिशु नाम प्रसिद्ध है।

शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः अर्थात् गर्भधारण के लिए पुरुष के द्वारा स्त्री को इसे दिया जाता है, अतः शिशु नाम है।[१४]

स्वामी दयानन्द ने शिशु शब्द की निरुक्ति **श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरमिति शिशुः बालको वा** इस प्रकार प्रदर्शित की है। अर्थात् जो अपने माता-पिता के शरीर को क्षीण करता है, अतः शिशु है।[१५]

इन निर्वचनों के आधार पर शिशु की तीन विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

१. जो लालन की योग्य है।

२. जिसको परिपुष्टि हेतु किसी को प्रदान किया जाता है।

३. जो क्षीण करता है।

शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥[१६]

ऋग्वेद के इस मन्त्र में सायण ने शिशु शब्द का अर्थ पापों का विनाश करने वाला किया है।[१७] पण्डित आर्यमुनि ने इस मन्त्र का ईश्वरपरक अर्थ करते हुए शिशु शब्द का अर्थ परमात्मा किया है। प्रलयकाल में जो इस स्थूल जगत् को सूक्ष्म कर देता है।[१८]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समकक्षवाद वेदार्थ की

---

[१४]निरुक्त १०.३९

[१५]उणादिसूत्र १.२० (दयानन्दः)

[१६]ऋग्वेद ९.९६.१७

[१७]शिशुम् इदानीमुत्पन्नत्वात् शिशुवत्तिष्ठन्तं, यद्वा पापानि तनूकुर्वन्तं विनाशयन्तम्

[१८]श्यति सूक्ष्मं करोति प्रलयकाले जगदिति शिशु परमात्मा

कुञ्जी होने के साथ साथ वेदों में अनुस्यूत वैज्ञानिक सिद्धान्तों की भी कुञ्जी है।

समकक्षवाद स्वामी जी का अपना कोई नवीन वाद नहीं है, अपितु वे तो ब्राह्मण एवं उपनिषद् आदि ग्रन्थों में ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग के द्रष्टा मात्र हैं। वेद के विद्वानों ने जिस मार्ग को भुला दिया था, उसका उन्होंने दर्शन मात्र कराया है। उन्होंने अपने निबन्ध में ऋषियों की समकक्षवाद की शैली का दिग्दर्शन कराने के लिए शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसङ्ग को उद्धृत किया है। वे कहते हैं कि शतपथ में लिखा है कि दो ही तत्त्व है- शुष्क और आर्द्र। आगे फिर ब्राह्मण कहता है कि सूर्य आग्नेय है और चन्द्रमा सौम्य है। सूर्य अग्नि है क्योंकि ब्रह्माण्ड में सूर्य के उदय होने पर शुष्कता आती है और चन्द्रमा के उदय होने पर आर्द्रता आती है। अतः इस आधार पर अग्नि एवं सोम की मौलिक विशेषता का ज्ञान होने पर अन्य क्षेत्रों में शुष्कता एवं आर्द्रता की विशेषता वाले पदार्थों को अग्नि एवं सोम कहा जा सकता है।[११]

इस प्रकार यदि हम वेद के किसी एक क्षेत्र के अर्थ को जान ले तो हर क्षेत्र में उन शब्दों का अर्थ जानना सुगम हो जाएगा। वेद में जो अनन्त विद्या भरी है, उसकी यही कुञ्जी है।

यदि समाजशास्त्र में अग्नि, सोम, इन्द्र आदि के अर्थ ठीक-ठीक जान लें तो यन्त्रविद्या में उनके समकक्ष क्या है? यह जानकर यन्त्रविद्या भी उन्हीं मन्त्रों द्वारा मानी जा सकती है।

यह वैज्ञानिक तथ्य यौगिक प्रक्रिया के द्वारा समकक्षवाद के सहारे ही विद्यमान रह सकता है। यदि हम जान लें कि अग्नि का अर्थ अग्रणी है

---

[११]वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो क्या भूलो? पृष्ठ-३६

तब तो अनेक वैज्ञानिक अर्थ ठीक समझे जा सकते हैं, परन्तु यदि हम अग्नि का रुढ़ अर्थ अङ्गारों में जलने वाली अग्नि ले लें तो फिर हम वेद का रहस्य कुछ नहीं जान सकते हैं। यह समकक्षवाद ही है, जिसके सहारे वेद समस्त विद्याओं का बीज रूप ज्ञान देने वाला कहलाता है।

वैदिक औषधविज्ञान

डॉ० नन्दिनी रघुवंशी[१]

सर्वज्ञानमयो हि सः[२] वेद आदिकाल से ही मनुष्यों के सर्वविधज्ञान का आधार रहे हैं। जीवनोपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान ईश्वर ने हमें वेद के रूप में उपहारस्वरूप प्रदान किया। मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति के लिए उन्नत ज्ञान के साथ-साथ एक विशिष्ट ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता हुई स्वस्थवृत्त अर्थात् स्वस्थ जीवन जीने के सूत्र जिनके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति कर पाना असम्भव था। इसी स्वस्थवृत्त के सूत्र समग्र वेदराशि में यत्र-तत्र दृग्गोचर होते हैं।

वैदिकसाहित्य में प्रस्फुटित आयुर्वेद के सूक्ष्म अङ्कुरों ने सहस्रों वर्ष पहले ही विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया था। जिसके मधुर फल से मानव स्वयं को नीरोग एवं पुष्ट कर रहा है। आयुर्वेद के अत्यधिक विकास एवं प्रचार-प्रसार के कारण जीवनरक्षण औषधियों के अतिरिक्त दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के विविध साधनों यथा शक्तिवर्धक औषधियों, च्यवनप्राश, शीतल तैल, सौन्दर्य प्रसाधनों, दन्तमञ्जन, पूजन

---

[१] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

[२] मनुस्मृति २.७

सामग्रियों एवं अन्य अनेक वस्तुओं में आयुर्वेदिक औषधियों का प्रयोग हो रहा है। इसकी लोकप्रियता के कारण हैं- हमारे आस-पास विविध औषधियों की उपलब्धता, इन औषधियों का किसी भी प्रकार के विपरीत प्रभाव से रहित होना, अन्य चिकित्सा पद्धतियों यथा एलोपैथी से कम मूल्यवान् होना तथा व्याधियों को मूलतः समाप्त कर देने की क्षमता से युक्त होना।

औषधि क्या है?

ओषो नाम रसः सोऽस्यां धीयते तदोषधिः।
ओषादारोग्यमाधत्ते तस्मादोषधिरोषधः॥[३]

ओष अर्थात् आरोग्य का आधान कराने वाले रस को धारण कराने वाला घटक ओषधि कहलाता है। आचार्य यास्क निरुक्त में ऐसी ही व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं- **ओषधयः ओषद्धयन्तीति वा। ओषत्येनां धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा**[४]। वस्तुतः मानवजीवनोत्पत्ति, विकास, बल तथा ओज के मूल 'द्रव्य' ओषधि ही हैं।

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णोजसां च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः[५]। आहार ही प्राणियों की उत्पत्ति उनके बल, वर्ण तथा ओज का प्रधान कारण है, वह आहार षट् रसाश्रयी है, रस द्रव्याश्रयी और औषधी ही द्रव्य है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९७वें सूक्त में हमें सर्वप्रथम ओषधियों से सम्बन्धित लक्षण स्थानभेदादि का ज्ञान प्राप्त होता[६]। ये माता के समान सर्वविध हितकारी

[३]काश्यप खि. ३.२७

[४]निरुक्त ९.२२

[५]सुश्रुत सं. १.२६

[६]ओषधिरिति मातरः, तद्वो देवीरूप ब्रवे। ऋग्वेद १०.९७.४

हैं। वर्ण, स्वरूप, गुण-धर्म, फल-पुष्प के आधार पर औषधियों का विस्तृत विवेचन अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[७]

ओषधयः फलपाकान्ताः[८] ये प्रसिद्ध लक्षण हम सुनते आ रहे हैं परन्तु कहीं-कहीं हमें औषधि अथवा औषध शब्द का भी प्रयोग दिखाई देता है। औषधि एवं औषध प्रायः समानार्थी शब्द हैं परन्तु औषधि शब्द भिन्न है। इस पर प्रकाश डालते हुए अमरकोशकार ने इनमें निहित भेद को स्पष्ट किया है- **ओषध्यो जातिमात्रे स्युः अजातौ सर्वमौषधम्**[९] अर्थात् ओषधिशब्द जातिमात्र (व्रीहि, यव, चना आदि) के अर्थ में प्रयुक्त होता है जबकि जाति से भिन्न 'द्रव्य' आदि के रूप में औषध का व्यवहार होता है।

वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र इन औषधियों का सामान्य अथवा लाक्षणिक रूप में वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ६७, यजुर्वेद में ८२, अथर्ववेद में २८९, ब्राह्मणग्रन्थों में १२९ तथा उपनिषदों में ३१ औषधियों का उल्लेख प्राप्त होता है, यह संख्या सहस्राधिक भी हो सकती है, यह एक गवेषणीय विषय है[१०]। इनमें से कुछ अप्रसिद्ध औषधियों के गुण धर्म की परिचर्चा प्रस्तुत है-

वरुण/वरण -

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः...[११]।

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा...[१२]।

---

[७]अथर्व ८.७.१

[८]चरक सू. १.७२

[९]अमरकोश २.४.१३५

[१०]आयुर्वेद का इतिहास, प्रथम अध्याय, पृ.सं. ४३

[११]अथर्ववेद १०.३.३

[१२]अथर्ववेद १०.३.१

अथर्ववेद के अनुसार वरण नामक मणि यक्ष्मारोग की औषधि है, यह वरण नामक वृक्ष से प्राप्त होती है। यह विश्वभेषज अर्थात् सर्वव्याधिविनाशक है। हिन्दी में इसे 'वरना' या 'वरुण' कहते है। इसके वृक्ष भारत में प्रायः सर्वत्र विशेषतः मध्यभारत, बङ्गाल, आसाम, मालाबार एवं कर्नाटक में पाए जाते हैं। इसके पत्रों को मसलने से तीक्ष्ण तीव्र असहनीय गन्ध आती है तथा स्वाद में कड़वापन, जीभ में कुछ झनझनाहट करने वाली तीक्ष्णता होती है। यक्ष्मा के अतिरिक्त यह सपत्नक्षयण (शत्रुनाशक), पापकर्मों की नाशक दुःखस्वप्नादि की भी विनाशक है। **वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारकः**[१३] आचार्य सुश्रुत इसे कफमेदोनिवारक, शिरःशूल तथा गुल्मादिनाशक मानते हैं। इसके अन्य भी बहुत से औषधीय गुण हैं। यथा - नेत्ररोगनिवारक, कण्ठरोगनिवारक, उदर-गुदा-वृक्कवस्ति-अस्थिसन्धि-त्वचा-बालरोग आदि में प्रयुक्त होता है। इसकी छाल एवं पत्र प्रयोग में लाए जाते हैं। वर्त्तमान में ड्युरेस्टन, स्टोमसेल आदि टेबलेट एवं केल्कोसिड कैप्स्यूल बनाने में इसका प्रयोग किया जा रहा है।

पृश्निपर्णी -

पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारवृङ्वमीः ॥[१४]

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के २५वें सूक्त में रोगनाशक कृमिहन एवं जीवनीशक्तिप्रदायक 'पृश्निपर्णी' का उल्लेख मिलता है। यह पौधा समस्त भारत की ऊसर भूमि तथा जङ्गल प्रदेशों में विशेषतः बङ्गाल तथा

[१३]सुश्रुत सं. ३८.८

[१४]भावप्रकाश, गुडुच्यादिवर्ग. ३८.३४

हिमालय प्रदेश में २०००मी. की ऊँचाई तक नैसर्गिक रूप से उत्पन्न होता है। यह चितकबरे पत्ते वाली होती है। भावप्रकाशनिघण्टु में इसे पृथक्पर्णी, चित्रपर्णी, सिंहपुच्छी, गुहा, कलभी तथा धावनी आदि कहा गया है। इसे चरकसंहिता में अंङ्गमर्दप्रशमन, शोथहर, संधानीय तथा सुश्रुतसंहिता में विदारीगन्धादि, हरिद्रादि गणों में इसका उल्लेख मिलता है। नेत्ररोग, नासारोग, उदररोग, गुदारोग, यकृत्प्लीहारोग, प्रजनन-संस्थानरोग, अस्थिसन्धिरोग, त्वचारोग, मानसरोग, सर्वशरीररोग आदि में इसके प्रयोग उपयोगी हैं। इसे पुत्रजननी भी कहा जाता है। यह एक दुर्लभ वनस्पति है। वर्तमान में नारीसञ्जीवनीसुधा, हेमपुष्पा आदि सीरप में इसका प्रयोग होता है।

शङ्खमणि -

शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो विषामहे ॥[१५]

शङ्खेनामीवाममतिं शंखेनीत सरान्वाः ।

विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥[१६]

शङ्ख से हम सभी परिचित हैं। अथर्ववेद में इसके औषधीय अभिचारादि निवारक दिव्य महत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। शङ्ख से उत्पन्न ध्वनि सम्पूर्ण रोगों तथा तत्सम्बन्धी कीटाणुओं को नष्ट कर देती है। इसके प्रभाव को देखकर भारतीय समाज के धार्मिक जीवन में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रतिदिन शङ्ख बजाने से फेफड़ों का व्यायाम होता है, साथ ही शङ्ख में रखे जल को पीने से वाणीदोष भी नष्ट हो जाता है। वर्तमान में अष्टासीड, आस्टोहीम, एसिडैक्स, लिबरबून आदि टेबलेट्स बनाने में शङ्ख का प्रयोग किया जा रहा है।

---

[१५]अथर्ववेद ४.१०.२

[१६]अथर्ववेद ४.१०.३

अपामार्ग -

अपामार्ग ओषधीनां सर्वसामेक इद्वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥[१७]

अपामार्ग एक दिव्यौषधि है, जो प्रायः समस्त भारत के नगरीय एवं ग्रामीण स्थानों में प्राप्त होता है। अति भूख, अति प्यास, इन्द्रियदोष, बन्ध्यापन आदि सब अपामार्ग औषधि के प्रयोग से दूर होते हैं।[१८] मुख्यतः अपामार्ग की दो प्रजातियाँ होती हैं, जिनका प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है-

१. श्वेत अपामार्ग २. रक्त अपामार्ग।

अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः।
पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः।
निहन्ति हृद्रुजाध्मार्शः कण्डूशूलोदरापचीः॥[१९]

इसके विविध औषधीय प्रयोग हैं यथा - शिरोरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, मुखरोग, वक्षरोग, उदररोग, गुदारोग, यकृत्प्लीहारोग, वृक्कवस्ति रोग, प्रजनन संस्थानरोग, अस्थिसन्धि रोग, त्वचा रोग, विष-चिकित्सा आदि में। अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में अपामार्ग विषयक विविध मन्त्र वर्णित हैं।

पीलु -

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमश्वसम्।
गुल्गुलूः पीलानलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥[२०]

---

[१७]अथर्ववेद ४.१७.८

[१८]अथर्ववेद ४.१७.६

[१९]भाव.प्र. गुडूच्यादिवर्ग २.२०

[२०]अथर्ववेद ४.३७.३

प्रस्तुत मन्त्र में नदीजल में उत्पन्न कृमिनाशक के रूप में पीलू, गुगलु, मांसी, औक्षगन्धी तथा प्रमोदिनी इन औषधियों का वर्णन प्राप्त होता है। भारत में बिहार, कोंकण, दक्कन प्रायद्वीप, राजस्थान, सिंध आदि में पीलू बहुतायत से पाया जाता है। चरकसंहिता में विरेचनोपग, विरेचन, शिरोविरोचनोपग तथा ज्वरहर के रूप में इसकी गणना की गई है। यह एक उत्तम मुखशोधक भी है, अंग्रेजी में इसे मिसवाक (Meswak)कहा जाता है। मुख्यतः यह मुखरोग, वक्षरोग, उदररोग, गुदारोग, अस्थिसन्धिरोग, त्वचारोग एवं मानसरोगों के उपचार में प्रयुक्त होता है। इसके पत्र, पुष्प, काण्ड, फल तथा मूल सभी के औषधीय प्रयोग हैं।

इनके अतिरिक्त अङ्ग, अजिर, अजश्रृङ्गी, अपराजिता, अभीवर्त, यामुन, त्रैकुदाञ्जन, पिप्पली, लाङ्गली, त्रिसन्ध्या, सस्यमञ्जरी, दर्भ, दूर्वा, उत्पलकन्द आदि शताधिक औषधियों पर चिन्तन कर उनसे लाभ लिया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान चिकित्सापद्धति एवं औषधविज्ञान प्रायः सब हमारे वैदिकविज्ञान से अनुप्राणित हैं। समस्त चिकित्साविज्ञान वैदिकसाहित्य का ऋणी है क्योंकि -

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

अथर्ववेदीय आयुर्विज्ञान

डॉ० अशोक कुमार शतपथी[१]

वेद परमेश्वर अथवा परब्रह्म का निःश्वसित रूप है, वेदों से ही समग्र जगत् का आविर्भाव हुआ है, प्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायणाचार्य इसी की घोषणा करते हैं -

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥[२]

वेद का त्रिकालज्ञत्व, सर्वज्ञत्व तथा अनादितत्व पहले से सिद्ध है, प्राचीन ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्र मानवजीवन के रक्षक के रूप में आविर्भूत हुए हैं। ये वैदिक मन्त्र ही विज्ञान का उत्स हैं, जो मानवजीवन हेतु सञ्जीवनीरूप में उपस्थित हैं। वेदों में मन्त्ररूप में सूत्रीकृत इस ज्ञानराशि का विस्तार अन्यग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।

आयुर्वेद, जो अखिल मानव समाज के कल्याण हेतु उपस्थित है, वह भी वेद से ही प्रादुर्भूत है। आयुर्वेद के उत्पत्ति विषयक प्रश्न में विद्वान् पूछते हैं कि ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्ववेद में से आयुर्वेद की उत्पत्ति

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय**

[२]ऋग्वेदभाष्यभूमिका, मङ्गलाचरण

किस वेद से सम्बन्धित है? तब उत्तर के रूप में विद्वानों को अथर्ववेद के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करनी चाहिए, क्योंकि अथर्ववेद दान, स्वस्त्ययन, मङ्गल, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास तथा मन्त्रादि के परिग्रह द्वारा चिकित्सा का ज्ञान प्रस्तुत करता है-

"तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या, वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियम-प्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहचिकित्सां प्राह, चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।"[३]

सुश्रुत भी आयुर्वेद को अथर्ववेद के उपाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हैं, यथा -

"इह खलु आयुर्वेदमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।"[४]

अथर्ववेद के उपाङ्गभूत विस्तृत आयुर्वेद को मनुष्यों को अल्पबुद्धि वाला देखकर अष्टाङ्गों में ही सीमित कर दिया गया। शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व तथा आत्मा के संयोग का नाम आयु है। यह 'आयु' इस आयुर्वेद में है अथवा इस शास्त्र के द्वारा प्राप्त होती है अतः यह आयुर्वेद है- **"आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति इत्यायुर्वेदः।"**

अपि च

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यच्चोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥[५]

---

[३] चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ३०/२१

[४] सुश्रुतसंहिता १/१/५

[५] चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ३०/२६

आयुर्वेद वह विज्ञान है, जो जीवन के लिए हितकारी-अहितकारी, पथ्य-अपथ्य तथा जीवन जीने की शैली, रोगों से बचाव तथा उपचार के उपायों का ज्ञान कराता है। प्राचीन परम्परा के आचार्यों में कुछ आचार्य आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद भी मानते हैं। जिस आर्षपरम्परा में अनादि आयुर्वेद की उत्पत्ति या प्रादुर्भाव को अधुनातन दृष्टि से देखा जाता है, वेदों में वह बहुल दिखाई देता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का तैतिसवाँ सूक्त चिकित्सा पद्धति के विकसित रूप को दर्शाता है -

त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्यस्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥
मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥[६]

अर्थात् "हे रुद्र! तुम अत्युत्तम औषधियों से सब के बड़े-बड़े रोगों का निवारण करके राग-द्वेष और उन्माद आदि को दूरकर जिनकी आयु शतवर्ष हो, ऐसे मनुष्यों को सिद्ध करो। हे अभिलाषा पूरक रुद्र! हम विधिविरुद्ध नमस्कार एवं अशोभन स्तुतियों से आपको क्रोधित न करें। हमारे पुत्रों को अपनी औषधियों द्वारा उत्तम बनाओ, हमने सुना है कि आप श्रेष्ठ वैद्य हो।

इन मंत्रों में भिषक्, भेषज अर्थात् वैद्य की प्रशंसा के अतिरिक्त वैदिक दृष्टि से शतायु का महत्त्व तथा **'शतं हिमा अशीय भेषजेभिः'**, अर्थात् औषधियों द्वारा शतवर्ष की आयु प्राप्त करने का आदर्श भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

शुक्ल यजुर्वेद के द्वादश अध्याय में औषधियों की प्रार्थना, द्रव्य

---

[६] ऋग्वेद २/३३/२,४

गुण एवं प्रभाव के विषय में चर्चा उपलब्ध होती है। दर्शपूर्णमासेष्टि के सन्दर्भ में रोग-मुक्त जीवन की कामना की गई है। द्वादश अध्याय में विभिन्न ऋतुओं में प्रादुर्भूत औषधियों के एक सौ सात उत्पत्ति स्थान, औषधियों के पकने पर उनमें बभ्रु वर्ण का परिवर्तन, उनके गुण, प्रभाव, व्याधिहरण शक्ति, रोगों को युद्ध में अश्वों के समान पराजित करती पुष्पवती तथा फलवती औषधियों के ज्ञान से सम्पन्न विप्र को भिषक् कहलाने की योग्यता आदि का वर्णन है-

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनु बभ्रूणामह शतं धामानि सप्त च॥
शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रूहः।
अघा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥
ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरी।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥[७]

इसी क्रम में औषधियों को देवता का रूप प्रदान किया गया है। औषधियों को देवत्व प्रदान कर उनसे संवाद स्थापित किया गया है, औषधियों से प्रार्थना की जाती है कि औषधियों का सङ्ग्रहकर्ता नष्ट ना हो, जिस रोगी के लिए उनका सङ्ग्रह किया गया है, वह रोगी नीरोग होकर सुरक्षित रहे।

गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋतुसन्धियों में रोग उत्पन्न होता है अतः इन रोगों के निवारण हेतु यज्ञ करना आवश्यक है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार - **"भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।"**[८]

---

[७] यजुर्वेद १२/७५/७७

[८] गोपथ ब्राह्मण ३/१/१९

ब्राह्मणग्रन्थों में शरद् को बर्हिः अर्थात बढ़ाने वाला भी कहा गया है-

"शरदि हि बर्हिष्ठा ओषधयः भवन्ति।

शरदि ह खलु वै भूयिष्ठा ओषधयः पच्यन्ते।" [९]

शरद् ऋतु में जीवनदायिनी प्रबुद्ध औषधियां होती हैं अतः वैद्यजनों को शरद काल में ही औषधि सङ्ग्रह उचित बताया गया है। औषधि से अमृततत्व की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मपद का ही रूप है -

"यद्भेषजं तदमृतं यदमृतं तदमृतम्।"[१०]

अथर्ववेद में दो प्रकार के रोगों का उल्लेख प्राप्त होता है, शपथ्य तथा वरुण्य।

"मुचन्तु मां शपथ्यादथो वरुण्यादुत।"[११]

वरुण्य आहार-विहार जन्य रोग है, शपथ्य शापहेतुक है। अथर्व-वेद में नीरोगता के साधन भी बताए गए हैं, दीर्घायु प्राप्त करने के लिए जो मार्ग वर्णित है, वह ही नीरोगता का आधार है। अथर्ववेद के प्रथमकाण्डन्तर्गत तृतीय सूक्त में पञ्चारोग्य कारक तत्त्वों का उल्लेख प्राप्त होता है-

१. पर्जन्य (वृष्टिजल)
२. मित्र (प्राणशक्ति)
३. वरुण (जल)
४. चन्द्र
५. सूर्य

---

[९] कौषीतकि ब्राह्मण ३/४

[१०] गोपथ ब्राह्मण १/९//४

[११] अथर्ववेद शौनकीयशाखा

वर्षा जल शुद्ध तथा रोगनाशक है "**विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।**"[१२] मित्र (प्राण) शरीर को शक्ति प्रदान करता है "**विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।**"[१३] जल शरीर के दूषित तत्त्वों को बाहर निकालता है। "**विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।**"[१४] चन्द्रमा इन्द्रियों तथा मन को शान्ति एवं शक्ति प्रदान करता है "**विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्**"[१५] तथा सूर्य शरीर का पोषक तथा रक्षक है। यथा-

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।

तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥[१६]

मल और मूत्र के वेग को रोकने से विविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः इन्हें अधिक समय तक धारण करना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है -

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥[१७]

इस सूत्ररूपी मन्त्र को परवर्ती आचार्यों ने विस्तृतरूप में व्याख्यायित किया है। चरक कहते हैं कि, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह मूत्र,

---

[१२] अथर्ववेद १/३/१

[१३] अथर्ववेद १/३/२

[१४] अथर्ववेद १/३/३

[१५] अथर्ववेद १/३/४

[१६] अथर्ववेद १/३/५

[१७] अथर्ववेद १/३/१४

पुरीष (मल), वीर्य, अपान, छींक, उद्गार (डकार), जम्भाई, भूख, प्यास, आँसू, निद्रा के वेगों को तथा थकावट से उत्पन्न हुए श्वास के वेगों को ना रोके अर्थात् जब ये वेग उत्पन्न हो जायें उस समय इनको रोकना क्षतिकारक होता है -

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरीषयोः ।
न रेतसो न वातस्य न वम्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारं न जृम्भायाः न वेगान् क्षुत्पिपासयोः ।
न बाष्पस्य न निद्राया निश्वासस्य श्रमेण च ॥[१८]

अष्टाङ्गहृदय के रचयिता वाग्भट्ट ने कास के वेग को रोकने के लिए भी निषेध किया है-

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासारुचिहृदामयः ।
शोषो हिक्ष्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः ॥[१९]

कास वेग धारण से अर्थात् कास को रोकने से कास की वृद्धि, श्वास, अरुचि, हृदय रोग, शोष, हिक्का आदि उपद्रव हो जाते हैं। सुश्रुत ने उपर्युक्त त्रयोदश प्रकार के वेगधारण से उत्पन्न होने वाले त्रयोदश उदावर्त माने हैं, चरक ने अष्टोदरीय में षड् वेग माने हैं, शेष सप्त को वातजोदावर्त में ही माना है। मूत्रनिग्रह से मूत्राशय में संक्रमण, मेहन में शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरोवेदना, विनाम (पीड़ा के कारण झुक जाना) आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, शलाका से मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा का सूत्र अथर्ववेद में उपलब्ध होता है-

---

[१८] चरकसूत्र ७/२०

[१९] अष्टाङ्गहृदयम्, सूत्रस्थान, ४/१३

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥[२०]

शरीर में स्थित वात, पित्त और कफ आदि तीनों दोषों की असमानता विकार होने से समस्त रोग होते हैं -

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥[२१]

वात, पित्त, कफ को सम रखने से नीरोगता होती है- "**रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता॥**" [२२]

प्रातः शीघ्र शय्यात्याग करने से शरीर नीरोग रहता है, अन्यथा मनुष्य का तेज नष्ट होकर रोग उत्पन्न करता है -

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे॥[२३]

नीरोग तथा आरोग्य प्राप्ति के लिए अथर्ववेद में भोजनसम्बन्धी अनेक मन्त्र सूत्र रूप में उपलब्ध होते हैं। खाया हुआ अन्न तीन प्रकार की गति को प्राप्त होता है, उसका अत्यन्त स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम भाग से माँस बनता है और अत्यन्त सूक्ष्म भाग से मन बनता है। इस तरह अन्न के संस्कारों एवं प्रकृति का मन से सीधा सम्बन्ध है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार -

---

[२०] अथर्ववेद १/३/१५,१६

[२१] अथर्ववेद १/१२/३

[२२] अष्टाङ्गहृदयम्, सूत्रस्थान १/२०

[२३] अथर्ववेद ७/१३/२

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽपिष्ठिस्तन्मनः।"[२४]

पीया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है, उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है तथा सूक्ष्मतम भाग प्राण हो जाता है।[२५] घी को तेज कहा गया है, खाया हुआ घृतादि तेज का स्थूलतम भाग अस्थि बनता है, मध्यम भाग मज्जा हो जाता है तथा सूक्ष्मतम भाग 'वाक्' हो जाता है।[२६] अतः अंश्यमान अन्न का सूक्ष्मतम भाग मन होता है -

"एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।"[२७]

अतः अन्न को उत्तम रूप से चर्वण करके खाना चाहिए, पानी को उत्तम रूप से पीना चाहिए क्योंकि उचित मात्रा में पिया गया जल रोगनाशक तथा शरीर शोधक होता है । अथर्ववेदानुसार -

"यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे॥"[२८]

अपि च -

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र संपिबः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥
यद्गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥[२९]

---

[२४] छान्दोग्योपनिषद् ६/५/१

[२५] छान्दोग्योपनिषद् ६/५/२

[२६] छान्दोग्योपनिषद् ६/५/३

[२७] छान्दोग्योपनिषद् ६/६/१

[२८] अथर्ववेद ६/१३५/१

अतः यह मन उत्तम आहार से शुद्ध रहता है '**आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः**'। मन की प्रसन्नता और स्वस्थता मनुष्य को नीरोग रखती है तथा उसका दूषित होना रोगों का कारण है, अथर्ववेद में कहा गया है - **अनमीवो मोदिषीष्ठा सुवर्चाः।**[३०]

प्रसन्नचित्त मानव बल, वीर्य तथा तेज वृद्धि को प्राप्त करता है, यजुर्वेद के शिवसङ्कल्पसूक्त के षट् मन्त्रों में पवित्र मन को धारण करने के लिए प्रार्थना की गई है। संयमशील मन योग्य सारथी के तुल्य मनुष्य को उचित मार्ग पर ले चलता है। मन को ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में ब्रह्मा, सम्राट्, प्रजापति आदि संज्ञाओं से अभिषिक्त किया गया है। मन की शक्ति अपार है, मनोबल में इतनी शक्ति निहित होती है कि वह बड़े से बड़े रोगों को दूर करने के साथ ही उनको नष्ट करने में भी समर्थ है, मन की शक्ति से, केवल स्पर्श मात्र से ही रोगी का रोग दूर किया जा सकता है इसी पद्धति का आश्रय लेकर '**स्पर्शचिकित्सा**' नामक चिकित्सा पद्धति का आविष्कार हुआ है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में स्पर्श चिकित्सीय मन्त्र प्राप्त होते हैं -

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥[३१]

इस प्रकार अथर्ववेद में नाना प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों के

---

[२९] अथर्ववेद ६/१३५/२,३

[३०] अथर्ववेद २/२९//६

[३१] अथर्ववेद ४/१३/६,७

सम्बन्ध में मन्त्र उपलब्ध होते हैं, प्रसूति-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, राजयक्ष्मा आदि चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक मन्त्र प्राप्त होते है, न केवल अथर्ववेद में अपितु सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में आयुर्विज्ञान के अनेक सूत्र प्राप्त होते हैं जिसका आश्रय लेकर ही परवर्ती वैद्यशास्त्रकारों ने विस्तृत शास्त्र परम्परा का विकास किया है।

वेद में परिवहन विज्ञान के सन्दर्भ

डॉ० सत्यकेतु[1]

मनुष्य की बुद्धि स्थूल (ज्ञात) से सूक्ष्म (अज्ञात) की ओर प्रवृत्त होती है। जब तक स्थूल पदार्थों का समुचित ज्ञान न हो तब तक सूक्ष्म विषय को जानना सामान्यतः संभव नहीं होता है। वेदों के सम्बन्ध में इसे विज्ञाताश्रयवाद के रूप में जाना जाता है[2]। वेद ज्ञान के आदि एवं अक्षय स्रोत हैं[3]। इनमें ऋषियों ने सूत्र रूप में ज्ञान की मणियों को पिरोया है। वैदिक ज्ञान विज्ञान के पुरोधा मनीषियों ने वेदार्थ प्रक्रिया में आद्योपान्त याज्ञिक विश्लेषण को ही आधार बनाकर भाष्य लिखे हैं। संसार के श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ[4] के प्रति उनकी श्रद्धा स्वाभाविक ही है किन्तु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वेद जिस जन सामान्य की समुन्नति के लिए थे उन्हीं की पहुंच से अत्यन्त दूर हो गए। त्रयीसङ्ग्रह नामक ग्रन्थ के लेखक

---

[1] **सहायकाचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**

[2] वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो क्या भूलो, पृ०-२०, प० बुद्धदेव विद्यालङ्कार (स्वामी समर्पणानन्द) विरचित यजुर्वेद - अथर्ववेद भाष्यम् के आरम्भ में प्रदत्त।

[3] अनन्ता वै वेदाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१०/११

[4] यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ ब्राह्मण १/७/१/५

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने सायणादि भाष्यकारों के अतिशय यज्ञवाद को देख कर अपनी चिंता निम्न शब्दों में व्यक्त की है-

"जब मैं "त्रयी" की रचना कर रहा था, मेरे मस्तिष्क में यह भाव खटका कि बहुत से मन्त्रों का वास्तविक भाव व अर्थ सायण के भाष्य से सुस्पष्ट नहीं हो पाता था। तब मेरी यह उत्कट इच्छा हुई कि मैं वेदों के यास्क तथा अन्य पुराने प्रस्तुतकर्ताओं के भाष्य प्रकाशित करूँ।[५]"

इसी प्रसङ्ग में उन्होंने वेद भाष्यकारों के विज्ञानवेत्ता होने पर भी बल दिया है। वे कहते हैं- "अतः यह सुस्पष्ट है कि जो विद्वान्, कृषि, व्यापार, भूगर्भ विद्या, ज्योतिष शास्त्र, जल शक्ति, वनस्पतिशास्त्र, पशु विज्ञान, शरीर विज्ञान, युद्ध विज्ञानादि की जानकारी रखता है, वही वेदों का सही व सच्चा भाष्य करके एतद्विषयक शङ्काओं का समाधान कर सकता है।[६]"

श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी के इस चिन्तन से विज्ञानपरक वेदार्थ के अभाव का कार्यकारण सम्बन्ध स्पष्ट है। जो पारम्परिक रूप से वैदिक ज्ञान सम्पन्न हैं उन्हें विज्ञान का ज्ञान नहीं और जो विज्ञान जानते हैं उनके पास वैदिक ज्ञान का लेश मात्र भी संस्कार नहीं है। आवश्यकता विद्या के क्षेत्र में इस प्रकार के समन्वयी ज्ञानार्थियों की है, जो व्याकरण, मीमांसा आदि वेदार्थ साधन शास्त्रों के साथ-साथ विज्ञान के भी गम्भीर ज्ञाता हों। तभी वेद के विज्ञान को समझने-समझाने की शक्ति प्राप्त हो सकती हैं।

"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजाः इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥"[७]

---

[५] उपोद्घात पृ०-०४, वैदिक वाङ्मय में विज्ञान, डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त

[६] उपोद्घात पृ०-०४, वैदिक वाङ्मय में विज्ञान, डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त

[७] अथर्ववेद, १०/०८/३७

अर्थात् जो इस व्यापक विश्व की प्रजाओं में हर आयतन में ओतप्रोत फैले हुए सूत्र (एक-सार धागे) को जानता है, वह सूत्र के सूत्र को जानता है, वह व्यापक फैले महान् ब्रह्म को जानता है। वैदिक ऋषि सूत्ररूप में विज्ञान की चर्चा करते हैं[८]। आज का विज्ञान मानता है कि कोई ऊर्जा कभी पूर्णरूपेण, आत्यन्तिक रूप में नष्ट नहीं होती किन्तु उसका परिवर्त्तन होता रहता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के रूप में परिवर्त्तित होता रहता है। किन्तु इनका न तो निर्माण होता है और न ही विनाश होता है।[९] इसी को उपनिषदों में "**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥**[१०]" के रूप में

---

[८] अग्निषोमात्मकं जगत्, शत.ब्रा. १/६/३/२३, वं अग्निर्हिमस्य भेषजम्, यजु. २३/४६ आदि

[९] This law was first given by the French chemist Lavoisier in १७८९. **According to the law of indestructibility of matter** or **the law of conservation of mass,** the mass of a closed system remains unchanged, regardless of the process going on inside that system. In other words, matter can neither be created nor destroyed; Only its form can be changed. Therefore, in a chemical reaction occurring in a closed system , the total mass of the reactants must be equal to the total mass of the products. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E०%A४%A६%E०%A५%८D%E०%A४%B०%E०%A४%B५%E०%A५%८D%E०%A४%AF_%E०%A४%९५%E०%A५%८०_%E०%A४%८५%E०%A४%B५%E०%A४%BF%E०%A४%A८%E०%A४%BE%E०%A४%B६%E०%A४%BF%E०%A४%A४%E०%A४%BE_%E०%A४%९५%E०%A४%BE_%E०%A४%A८%E०%A४%BF%E०%A४%AF%E०%A४%AE

[१०] बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ०५/१

वर्णित किया गया है। जहाँ पूर्ण से पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है।

यजुर्वेद के छठे अध्याय के २१वें मन्त्र में समुद्र, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि में जाने की प्रेरणा दी गई है- **समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवीं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा...।** जब जाने की प्रेरणा है तो जाने हेतु साधन के विषय का भी उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में गृत्समद शौनक ऋषि १८ वें सूक्त का आरम्भ ही एक उत्तम रथ के निर्माण की चर्चा से करते हैं। पहले ही मन्त्र में एक इस प्रकार के नवीन रथ के विषय में शिल्पियों से निर्माण की प्रार्थना की जा रही है जिसमें १० अरित्र जुड़े हों और जिसकी गति तीन प्रकार की हो तथा जिसमें तीन प्रकार के साधन जोड़े गये हों, जिसकी सात प्रकार की किरणें हों।[११] इसी प्रकार एक मन्त्र में समुद्र में सोने से मढ़ी सुन्दर नौका एवं अन्तरिक्ष गमन-योग्य वाहन की ओर सङ्केत प्राप्त होता है। जिसका भावार्थ लिखते हुए महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि जो मनुष्य सुदृढ नावें और भूविमानों को भूमि और अन्तरिक्ष में चलने वाले यानों को अन्तरिक्ष में चलने को रचते हैं और उनसे देश-देशान्तरों को जाय-आकर अपनी इच्छा को पूरी करते हैं वे ही सूर्य्य के समान प्रकाशित कीर्त्ति वाले होते हैं[१२]।

इसी भाँति गृत्समद ऋषि कहते हैं- "हे! इन्द्र मेरे रचाये इस यज्ञ में आप दो घोड़ों की शक्ति से युक्त यान के द्वारा आईये- **आ द्वाभ्यां**

---

[११] प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः... ऋ० २/१८/१

[१२] यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कानेन कृतश्रव इच्छमानः॥ ऋग्वेद, ६/५८/०३

हरिभ्यामिन्द्र याहि...।" यहाँ निश्चय ही घोड़ों की शक्ति शब्द आज प्रयुक्त अश्वशक्ति (Horse power) का ही सङ्केत है। बहुत आश्चर्यजनक रूप से ऋषि अग्रिम मन्त्रों में दो से आगे गणना करते हुए चार, छह, आठ, दश, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे व सौ घोड़ों की शक्ति वाले यान से आने के लिये इन्द्र से प्रार्थना कर रहा है[१३]। अब ऐसा रथ तो सम्भव नहीं है कि जिसमें सौ अश्व जोड़े जा सकें अतः यह वैदिक सङ्केत अश्वशक्ति का ही परिचायक प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में एक ऐसे रथ का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें अश्व नहीं जोड़ा गया है और न ही कोई लगाम है। ऐसा प्रशंसनीय तीन पहिये का रथ स्पष्ट रूप से आधुनिक प्रकार के किसी वाहन का वर्णन प्रतीत होता है जिसमें अश्व को जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है-

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः।[१४]

इसी भाँति का वर्णन यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है। जहाँ एक ऐसे रथ का उल्लेख है, जिस पर सुवर्ण के समान अग्नि प्रकट करने वाले सींग लगे हैं। जिसके पैर लोहे के और जो मन की गति से चलने वाला है- **हिरण्यशृङ्गो अयो अस्य पादा मनोजवा।**[१५]

भार वहन के लिये साधन के रूप में बैलों का उल्लेख भी यजुर्वेद साक्षात् प्रस्तुत करता है- **वोढाऽनड्वान्।** शीघ्र गमनार्थ घोड़े और जयशील रथियों (**आशु सप्तिः... जिष्णुः रथेष्ठाः**) का भी सन्दर्भ यजुर्वेद में सहज प्राप्य है[१६]। जलीय यातायात हेतु एक इस प्रकार की नौका की

---

[१३] ऋग्वेद, २/१८/४-६

[१४] ऋग्वेद, ०४/३६/१

[१५] यजुर्वेद २९/२०

[१६] यजुर्वेद २२/२२

ओर सङ्केत प्राप्त होता है, जो सुन्दर है, जो कहीं से भी स्रवित नहीं होती है, जो सभी प्रकार के दोषों से रहित तथा जिसको चलाने के लिये शताधिक पतवारें लगी हुईं हैं, ऐसी नाव पर कल्याण की कामना से आरोहण करें-

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्रां स्वस्तये॥[१७]

यजुर्वेद के इसी अध्याय में दिव्य नौका का भी वर्णन प्राप्त होता है, जो उत्तम रक्षा करने वाली, आकार में बड़ी सुविस्तीर्ण, प्रकाश से युक्त, दोषरहित, उत्तम सुख देने वाली, अच्छी नीति से युक्त, सुन्दर पतवारों से सुशोभित, जिसमें कोई छिद्र नहीं है अर्थात् जिसमें पानी नहीं भरता है, उस नौका पर आत्म कल्याण के लिये हम आरोहण करें[१८]।

ऋग्वेद इस प्रकार के परिवहन साधनों का भी सन्दर्भ देता है, जिनकी गति समुद्र और अन्तरिक्ष में दोनों स्थानों पर सम्भव हो। वेद कहता है- वे यान और विमान जिनसे अन्तरिक्ष में विचरण करते हुए कहीं भी उतर सकें उनका निर्माण एवं उनके द्वारा सञ्चार क्रिया को जानें और इसी भाँति समुद्र में चलने वाली नौकाओं के निर्माण एवं उनके द्वारा सञ्चालन आदि को जानें-

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥

इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए महर्षि स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि "जो ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष भू और समुद्र में जाने आने वाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उनको सिद्ध करने को जो पूर्ण विद्या-शिक्षा और हस्त क्रियाओं के कला कौशल में कुशल मनुष्य होता है, वही बनाने में समर्थ हो सकता है[१९]। अतः इससे स्पष्ट होता है कि वेदों में अन्तरिक्ष

---

[१७] यजुर्वेद २१/०७

[१८] यजुर्वेद २१/०६

[१९] ऋग्वेद, १/२५/७

एवं समुद्र में जाने आने वाले यानों के निर्माण की प्रेरणा विद्यमान है। वैदिक मन्त्रों में परिवहन के साधनों की प्रेरणा विद्यमान है ही इसके साथ ही जिस मार्ग पर यातायात होगा, उसकी सुरक्षा का भी बोध इनमें प्राप्त होता है। मार्ग के रक्षकों का पालकों का यजुर्वेद में साक्षात् वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ इन मार्ग पालकों को नमस्कार किया गया है-

पथीनां पतये नमः ।[२०] **ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः ।**[२१]

वेदों में यातायात के साधनों के मुख्य घटक के रूप में अग्नि की स्तुतियाँ प्राधान्यतया प्राप्त होती हैं। अग्नि को व्यापक और गति देने वाला तथा हव्य का वाहक होने से वह्नि कहा गया है। अग्नि के विशेषण के रूप में प्रवाहण शब्द आया है-

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ।[२२]

यजुर्वेद के ३५वें अध्याय के १३वें मन्त्र का भावार्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि- जो मनुष्य बिजुली आदि अग्नि की विद्या से यान बनाने आदि कार्यों के करने का अभ्यास करते हैं, वे अतिबली बैलों से खेती करने वालों के समान कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं और विद्युत् अग्नि के तुल्य इधर-उधर जा सकते हैं[२३]। उक्त वर्णनों से स्पष्ट होता है कि वाहनों के निर्माण में विद्युत् और अग्नि की प्रधानता होनी चाहिये चूंकि ये शीघ्रगामी हैं। अग्नि के समान ही यातायात के लिये वायु भी साधन स्वरूप है। वस्तुतः अन्तरिक्ष में गनमागमन हेतु वायु आधार है। जिसके अभाव में आकाश में यातायात असम्भव है। वेद में वायु की असंख्य

---

[२०] यजुर्वेद १६/१७

[२१] यजुर्वेद १६/६०

[२२] यजुर्वेद ०५/३१

[२३] यजुर्वेद, ३५/१३

गतियों का उल्लेख आया है- **वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरागहि**[२४]। इसका भावार्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं कि "हे! मनुष्यों जैसे वायु की असंख्य रमण करने योग्य गति हैं वैसे अनेक प्रकार की गतियों में समर्थ होकर सुख को भोगो।"

इसी प्रकार विद्युद्रथ[२५], युवायुजं रथ[२६], रथ, यान, विमान, सुपर्ण, गरुत्मान्, अनड्वान्, अश्व, शकट आदि शब्दों का प्रयोग वेदों में अनेकशः प्राप्त होता है। वेद मनुष्य जीवन की उन्नति के साधनों का उपदेश देते हैं। मनुष्य की भौतिक उन्नति इन साधनों के बिना सम्भव नहीं है अतएव वेदों में अनेक प्रकार के स्थल, जल तथा अन्तरिक्ष में गमनशील यानों के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त होती है। वेद में निहित इस प्रकार के विज्ञान के गम्भीर अध्ययन एवं शोध की आवश्यकता है।

---

[२४] यजुर्वेद, २७/३२

[२५] ऋग्वेद, ३/१४/१ एवं ३/५४/१३

[२६] ऋग्वेद, १/११९/५

ऋत एवं सत्य का वैदिक स्वरूप : विज्ञान के आलोक में

डॉ० विश्वेश 'वाग्मी'[१]

समस्त वैदिक ज्ञान-विज्ञान ऋषियों के अन्तःकरण में उद्बुद्ध सृष्टि-विषयक जिज्ञासा का ही परिणाम है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय-सूक्त में इस विषय में उपस्थापित की गई जिज्ञासा मानव इतिहास में वैज्ञानिक चेतना का आरम्भिक प्रमाण है। ऋषि प्रश्न करता है- 'कौन है, जो इस सृष्टि की उत्पत्ति विषयक वास्तविकता को जानता है, कौन है, जो इस विवरण का आधिकारिक रूप से वर्णन कर सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान और निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है। विद्वान् ऋषि भी तो इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद हुए हैं, अतः ये देवगण भी अपने से पहले की बात के विषय में सम्भवतः नहीं जानते होंगे।

इसलिए कौन है, जो यह जानता है कि यह संसार कब, कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ है'-

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार**

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥[२]

जिज्ञासा का यह आरम्भ बिन्दु ही वेदों में निर्दिष्ट मानव जीवन द्वारा प्राप्तव्य चरमबिन्दु का वास्तविक आधार है। वैदिक विज्ञान के अनुसार ऋत और सत्य ही संसार के मूलतत्त्व हैं। कौषीतकि ब्राह्मण का ऋषि कहता है कि समस्त सृष्टिजात ऋत एवं सत्य से ही उत्पन्न है। इन दोनों में से ऋत स्नेहरूप है अर्थात् स्निग्धावस्था में है और सत्य तेजोरूप है। इस तरह वेदों में ऋत और सत्य को युग्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह ठोस पिण्ड जिसका केन्द्र हो 'सत्य' कहलाता है और जो तरलावस्था में बिना केन्द्र के सर्वत्र व्याप्त हो, उसे 'ऋत' कहा जाता है। पं. मधूसूदन ओझा सृष्ट्युत्पत्ति विषयक दस वादों के रहस्य को उद्घाटित करते हुए अपने प्रसिद्ध 'अहोरात्र' नामक ग्रन्थ में इस विषय को अत्यन्त गम्भीरता के साथ उपस्थापित करते हुए कहते हैं -

स्नेहोऽस्ति रात्रिस्त्वहरस्ति तेजः कौषीतकिः पश्यति सर्वमाभ्याम्।
व्याप्तं तयोः स्निग्धमृतं नु तेजः सत्यं नु नाभ्यां परमस्ति किञ्चित्॥
यत्राशनाया प्रबलास्ति यस्यान्योन्यं समन्वेतुमणू यतेते।
स्नेहः स वीतो यदणूनिशानाद् यन्नाभिसत्यान्वयि तद्धितेजः॥[३]

वैदिक-विज्ञान के अनुसार सत्य की जो परिभाषा प्राप्त होती है, वह हमारे दैनिक व्यवहार में आने वाली नैतिक परिभाषा से सर्वथा भिन्न है। यह विशुद्ध वैज्ञानिक परिभाषा है। **'सहृदय-सशरीर-सत्यम्'** अर्थात् जिस वस्तु का एक केन्द्र (हृदय) हो और जो पिण्ड (शरीर) रूप हो वह **'सत्य'** है। हृदय शब्द यहाँ केन्द्र का परिचायक है न कि शरीर में रक्त

[२] ऋग्वेदसंहिता १०.१२९.६

[३] अहोरात्रवाद, ऋतसत्याधिकार १-२

को शोधन करने वाला यन्त्र। लौह, पाषाण, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, भूपिण्ड आदि सभी सत्य पदार्थ हैं। इनके शरीर भी हैं और केन्द्र भी। इस सत्य की पहचान यह बताई गई है कि सकेन्द्र पिण्ड के किसी एक अंश को पकड़कर खीचों तो सपूर्ण वस्तु खिंची चली आती है।

ऋत की परिभाषा है '**अहृदय-अशरीर-ऋतम्**' अर्थात् जिस पदार्थ का कोई केन्द्र भी न हो और जो पिण्ड स्वरूप भी न हो, शास्त्रों में उसे '**ऋत**' कहा गया है। ऋत का कोई शरीर और केन्द्र नहीं होता, अतएव उसे न तो पकड़ा जा सकता है और न ही खींचा जा सकता है। प्राण, वायु, सोम, आपः इत्यादि सभी **ऋत** पदार्थ हैं।

किन्तु जिस वस्तु का एक आकार, शरीर या पिण्ड तो हो पर केन्द्र या हृदय न हो, उसे '**ऋत-सत्य**' पदार्थ माना गया है। कर्पूर, राल, पारद, अभ्रक, गन्धक, मेघ आदि पदार्थ **ऋत-सत्य** हैं। इनका शरीर या पिण्ड तो है परन्तु हृदय या केन्द्र नहीं। अत इनके किसी एक अंश को पकड़कर खींचने पर एक टुकड़ा ही हाथ आता है, शेष अलग रह जाता है।[४]

वैदिक वाङ्मय में ऋत शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह ऋत ही है, जो विश्व की नैसर्गिक व्यवस्था और नियमों को सूत्रवत् सञ्चालित करता है। ऋत ही है, जो सूर्य और चन्द्र को अपने मार्ग में गतिशील रखता है, ऋतुओं को समयानुसार पृथ्वी पर अपने ऋतु-चक्र के अनुसार परिगमन कराता है। ऋत का शाब्दिक अर्थ है- वह नियम, जो सन्तुलन के साथ विश्व-व्यवस्था को एक नित्य-नियम में जोड़ता हो अर्थात् सृष्टि का सर्वमान्य नियम। अग्नि प्रकृति की उष्णता एवं दाहकता की शक्ति के साथ गतिमान् है। अत: वह **ऋतस्य क्षत्ता** है। नदियाँ नियम से प्रवाहित होने के कारण **ऋतावरी** हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर नदियों

[४] वेदविज्ञान, पृ. १९

की गति को समझाने के लिए ऋत शब्द का प्रयोग किया गया है। साथ ही सूर्य को सत्य का विस्तार करने वाला बताया गया है- **ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं ततान सूर्यः।**[५]

ऋत शब्द गत्यर्थक 'ऋ' धातु से ही निष्पन्न है। ब्रह्माण्ड के सभी पिण्ड इसी व्यवस्थित ऋत-नियम से ही गतिशील हैं। निरुक्त में ऋत को जल के समान सभी ओर पहुँचने वाला बताया गया है- **ऋतमित्युदकानाम्। प्रत्यृतं भवति।**[६] तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण विश्व और ब्रह्माण्ड को जो नियमों में आबद्ध रखता है, वह ऋत है। वेदों में ऋत को सभी पदार्थों की आद्या शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है- **ऋतस्य ही शुरुध सन्ति पूर्वीः।**[७] संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। संसार में जो कुछ भी है, वह सब ऋत के नियम से बँधा हुआ है। ऋग्वेद में मरुत को ऋत से उद्भूत माना गया है। विष्णु को **ऋतगर्भ** कहा गया है। द्यौ और पृथिवी ऋत पर स्थित हैं। उषा और सूर्य को **ऋतपा** अर्थात् ऋत का पालन करने वाला कहा गया है। वरुण, जिन्हें वेदों में भौतिक नियमों के रक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उन्हें **ऋतस्य गोपा**[८] अर्थात् ऋत के रक्षक के रूप में भी प्रशंसित किया गया है। ऋत को सत्य से भिन्न माना गया है। ऋत वस्तुतः **सत्य का नियम** है। ऋत-तत्त्व ही वैदिक दर्शन का मूल रूप है। परवर्ती साहित्य में इसी ऋत-तत्त्व को धर्म के रूप में लौकिक रूप से व्याख्यायित किया गया है। यह भी सम्भव है कि ऋत शब्द का प्रयोग पहले भौतिक नियमों के लिए किया गया हो; किन्तु बाद में ऋत के अर्थ

---

[५] ऋग्वेद १.१०५.१२

[६] निरुक्तम् पृ. २०५

[७] ऋग्वेद ४.२३.८

[८] ऋग्वेद ९.७३.८

में आचरण सम्बन्धी नियमों का भी समावेश हो गया। इस रूप में वैदिक दर्शन के अनुसार सनातन प्राकृतिक व्यवस्था और सन्तुलन का सिद्धान्त ही ऋत का सिद्धान्त है अर्थात् वह तत्त्व जो सम्पूर्ण संसार और ब्रह्माण्ड को सन्तुलित रखता है; **ऋत** कहलाता है। यही वैदिक सृष्टिविद्या का एक मूल सिद्धान्त है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त के अनुसार पृथिवी को धारण करने वाले प्रमुख तत्त्वों में बृहत्सत्य एवं उग्र ऋत प्रमुखतम हैं-

सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥[९]

वैदिक विज्ञान के अनुसार ऋत एवं सत्य भव के नेत्र हैं, ऋत को भृगु एवं सत्य को अङ्गिरा के नाम से सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः भृगु और अङ्गिरा युगल-तत्त्व माने गए हैं। भृगु के अनुष्ण अप, वायु और सोम तथा अङ्गिरा के तेजोमय यम, आदित्य और अग्नि ये छः तत्त्व ही सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं। इन्हीं के सामञ्जस्य से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। भृगु और अङ्गिरा तत्त्व ही पं. मधूसूदन ओझा के अनुसार वेदों में अहोरात्र पद से अभिहित हैं-

ऋतं च सत्यं च भवस्य नेत्रे ऋतं भृगुः सत्यमिहाङ्गिरास्तु।
सोमश्च वायुश्च तथाऽऽप एते स्निग्धा अनुष्णाभृगवोन्वृतस्थाः॥
यमोऽग्निरादित्य इति त्रयस्ते तेजोमया अङ्गिरसश्च सत्याः।
भृग्वङ्गिरोभ्यामिदमस्ति विश्वं व्याप्तं न्वहोरात्रमिदं प्रतीयात्॥[१०]

भृगु अर्थात् ऋत ही प्राण है, उसे ही स्नेहगुण के रूप में व्याख्यायित किया गया है। प्राण ही सोम, वायु और आपः रूपी तत्त्वों में तथा तेजोगुण वाक् ही यम, आदित्य (इन्द्र) और पार्थिव अग्नि के रूप में

---

[९] अथर्ववेद १२.१.१

[१०] अहोरात्रवाद, ऋतसत्याधिकार ३-४

परिणत हो जाता है-

प्राणो यदिस्नेहगुणः ससोमः स्थौल्यात् सवायुः पुनराप एताः।
तेजो गुणोग्निर्दिवि वाक् स इन्द्रः स्थौल्याद् यमोऽग्निः पृथिवीयमग्निः॥
पृथ्वी जलं तेज उतैष वायुश्चाकाशसोमाविति भूतवर्गः।
व्यासक्तरूपाणि तदित्थमेतान्यृतानि सत्यानि जगत्स्वरूपम्॥[११]

तैत्तिरीयसंहिता में भी पृथ्वी को ऋत तथा द्यौ को सत्य कहा गया है- **इयं (पृथिवी) वा ऋतम् असौ (द्यौ) सत्यम्।**[१२] जहाँ सूर्य का रस है, वह सत्य है उससे अतिरिक्त सभी वारुण, चान्द्र और भौममण्डल ऋत हैं-

दिव्योऽग्निरिन्द्रस्तत एव पूर्ण सत्यं ततो रिक्तमृतं प्रतीयात्।
यत्रास्ति सूर्यस्य रसः स सत्यस्ततोऽतिरेकादृतमेव सर्वम्॥
यद्वारुणं चान्द्रमिदं च भौमं तन्मण्डलं सर्वमृतं वदामः।[१३]

वेदों के अनुसार सूर्य की उष्णता ऋताग्नि है तथा चन्द्रमा की शीतलता ऋतसोम है। ऋत-सोम और ऋत-अग्नि के संसर्ग से ही ऋतुएँ बनती हैं। वस्तुत मूल ऋतु दो ही हैं- रात और दिन। अग्नि का प्रतीक दिन है। सोम का प्रतीक रात्रि है- **द्वौ वा ऋतू अहश्च रात्रिश्च।**[१४] वस्तुतः अग्नि और सोम सूर्य और चन्द्र के रूप में क्रमशः समस्त भुवनों एवं ऋतुओं के जनक हैं-

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः॥[१५]

---

[११] अहोरात्रवाद, ऋतसत्याधिकार ५-६

[१२] तैत्तिरीयसंहिता ५१-५८

[१३] अहोरात्रवाद ऋतसत्याधिकार ७-८

[१४] मैत्रायणीसंहिता ३७.१०

[१५] ऋग्वेद १०.८५.१८

अर्थात् ये दोनों आदित्य एवं चन्द्रमा अपनी माया शक्ति से पौर्वापर्य्य क्रम से शिशु की तरह अन्तरिक्ष में विहरण करते हुए यज्ञ की ओर जाते हैं। इन दोनों में से आदित्य समस्त जन्यजात को उत्पन्न करता है तथा चन्द्रमा वसन्तादि ऋतुओं को पैदा करता हुआ पुनः पुनः उत्पन्न होता है। उपर्युक्त मन्त्र में चन्द्रमा के ह्रास और वृद्धि के कारण ही पुनः पुनः जायते कहा गया है। इसी तरह ऋग्वेद का अगला मन्त्र भी उपर्युक्त तथ्य को प्रतिपादित करता है-

नवो नवो भवति जायमानो अह्नां केतुरुषणमेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥[१६]

यह ऋतुचक्र दो प्रकार का है सौर और चान्द्रचक्र। इसके अतिरिक्त संवत्सरात्मक चक्र को भी ऋग्वेद के अनुसार कुछ विद्वानों ने तृतीय चक्र के रूप में व्याख्यायित किया है-

द्वे ते चक्रे ब्रह्माणं ऋतुथा विदुः॥
अथैकं चक्रं यद् गुहा तद्द्धातय इद्विदुः॥[१७]

ओझा जी ने इस त्रिचक्र को भूमार्ग के तीन केन्द्रों के रूप में व्यख्यायित किया है। जिसके लिए उन्होनें दीर्घतमा महर्षि का प्रमाण उपस्थापित किया है-

भूमार्गचक्रं खलु दीर्घवृत्तं तत् त्रीणि केन्द्राणि भवन्ति तस्मिन्।
द्वे तूपपक्षे इह मासषट्कान्मध्यं तृतीयं तु पृथग्वदूह्यम्॥
एतत्त्रिकेन्द्रं भवति त्रिचक्रं यदाह सूर्य्या सवितुः सुतासौ।
त्रिचक्रसंवत्सरमेतमेव न्यरूपयद्दीर्घतमा महर्षिः॥[१८]

---

[१६] ऋग्वेद १०.८५.१९

[१७] ऋग्वेद १०. ८५.१६

[१८] अहोरात्रवाद ऋतसत्याधिकार १०-११

इस ऋतुचक्र में सोमतत्त्व के क्षय और वृद्धि के कारण एक संवत्सर में षड् ऋतुएँ होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा सोमतत्त्व की अल्पता एवं अग्नितत्त्व की अधिकता से पैदा होती हैं तथा शरद, हेमन्त और शिशिर सोमतत्त्व की अधिकता एवं अग्नितत्त्व की अल्पता से पैदा होती हैं -

ऋतोऽस्ति सोमः किल तत्र तत्र वृद्धिक्षयाभ्यां कुरुते विशेषात्।
ऋतेऽग्निभागा ऋतवःषडेते भवन्ति सोमान्वयतारतम्यात्॥
त्रयस्तु सोमक्षयतारतम्या वसन्तपूर्वा ऋतवो भवन्ति।
सोमप्रवृद्धिक्रमतस्त्रयोऽन्ये सौम्यर्तवस्ते शरदादयः स्युः॥[१९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत एवं सत्य वैदिक-विज्ञान के मूल तत्त्व हैं। वस्तुतः यही अहोरात्र हैं, जिन्हें वेदों में अग्नि और सोम के रूप में भी व्याख्यायित किया गया है। अग्नि सोमतत्त्व से संयुक्त होकर ही विश्व का सृजन करता है। तभी इस सृष्टि को अहोरात्रज सृष्टि कहा जाता है-

अग्निस्त्वहोरात्रिरयं स सोमो यमस्तु सन्धिर्न दिनं न रात्रिः।
अग्निर्हि सौम्यः सृजतीह विश्वं तस्मादोरात्रजसृष्टिमाहुः॥[२०]

---

[१९] अहोरात्रवाद ऋतसत्याधिकार ५-६

[२०] अहोरात्रवाद ऋतसत्याधिकार १६

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani86@gmail.com